विपथगा

जिनका ध्यान
हमारे हृदयों को दृढ़ बनाकर
हमें अपने-आपको और अपने कर्मों को
निरपेक्ष दृष्टि से देखने को बाधित करता है;
जिनकी स्मृति
खड्गधार की तरह संकीर्ण और वज्र की तरह कठोर
कर्त्तव्यपथ पर चलने के लिए
हमें शक्ति प्रदान करती है;
उन्हीं आदर्श मूर्तियों को
सादर समर्पित।

देहली जेल,
सितम्बर, १९३१

—विपथगा—

वह मानवी थी या दानवी, यह मै इतने दिन सोचकर भी नही समझ पाया हूँ। कभी-कभी तो यह भी विश्वास नही होता कि उस दिन की घटना वास्तविक ही थी, स्वप्न नहीं। किन्तु फिर जब अपने सामने की दीवार पर टँगी हुई वह टूटी तलवार देखता हूँ, तो हठात् उसकी सत्यता मान लेनी पड़ती है। फिर भी अभी तक यह निर्णय नही कर पाया कि वह मानवी थी या नही .

उसके शरीर मे लावण्य की दमक थी, मुँह पर सौन्दर्य की आभा थी, ओठों पर एक दबी हुई, विचारशील मुस्कान थी। किन्तु उसकी आँखें! उनमें अनुराग, विराग, क्रोध, विनय, प्रसन्नता, करुणा, व्यथा, कुछ भी नही था! थी केवल एक भीषण, तुषारमय, अथाह ज्वाला!

मनुष्य की आँखों में ऐसी मृतवत् जड़ता के साथ ही ऐसी जलन हो सकती है, यह बात आज भी मेरे गुमान में नही आती। किन्तु आज एक वर्ष बीत जाने पर भी, मै जब कभी उसका ध्यान करता हूँ, उसकी वह आखें मेरे सामने आ जाती हैं। उसकी आकृति, उसका वर्ण, उसकी बोली, मुझे कुछ भी याद नहीं आता, केवल वे दो प्रदीप्त बिम्ब दीख पड़ते है...रात्रिके अन्धकार में जिधर आँख फेरता हूँ, उधर ही, स्फटिक मणि की तरह, नीले आकाश में शुक्र तारे की तरह, हरित ज्योतिमय

उसके वे विस्फारित नेत्र निर्निमेष होकर मुझ पर अपनी दृष्टि गड़ाए रहते है...

मै भावुक प्रकृति का आदमी नही हूँ। पुराने फैशन का एक दम साधारण व्यक्ति हूँ। मेरी जीविका का आधार इसी पेरिस शहर के एक स्कूल मे इतिहास के अध्यापक का पद है। मै सिनेमा-थिएटर देखने का शौकीन नहीं हूँ, न मेरा कविता मे ही मन लगता है। मनोरञ्जन के लिए मै कभी-कभी देश-विदेश की क्रान्तियो के इतिहास पढ़ लिया करता हूँ। एक-आध वार मैंने इस विषय पर व्याख्यान भी दिए है। इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता, क्योकि यह विदेश है। जब पढ़ने से मन उकता जाता है, तब कभी-कभी पुराने अस्त्रशस्त्र के संग्रह मे लग जाता हूँ। बड़ी मेहनत से मैने इनका एक संग्रह किया है। जिस कटार से सम्राट् पीटर ने अपनी प्रेमिकाओं की हत्या की थी, उसकी मूठ मेरे संग्रह में है; जिस प्याले मे कैथराइन ने अपने पुत्र को विष दिया था, उसका एक खण्ड; जिस गोली से एक अज्ञात स्त्री ने आर्क-एञ्जल के गवर्नर को मारा था, उसका खाली कारतूस : जिस घोड़े पर सवार होकर नेपोलियन मॉस्को से भागा था, उसकी एक नाल, और नेपोलियन की जैकट का एक बटन भी मेरे संग्रह में हैं। ऐसा संग्रह शायद पेरिस में दूसरा नही है—शायद मॉस्को में भी नहीं था .

पर जो बात मैं कहना चाहता था, वह भूल गया। हाँ, मैं भावुक प्रकृति का नहीं हूँ। मेरी रुचि इसी संग्रह मे, या कभी

कभी क्रान्ति-सम्बन्धी साहित्य तक, परिमित है, और इधर-उधर की बातें मै नही जानता। फिर भी उस दिन की घटना मेरे शान्तिमय जीवन में उसी तरह उथल-पुथल मचा गई, जिस तरह एक उद्यान में झंझावात। उस दिन से न जाने क्यों एक अज्ञात, अस्पष्ट अशान्ति ने मेरे हृदय मे घर कर लिया है। जब भी मेरी दृष्टि उस टूटी हुई तलवार पर पड़ती है, एक गम्भीर किन्तु भावातिरेक से कम्पायमान ध्वनि मेरे कानो मे गूँज उठती है—

"दीप बुझता है तो धुआँ उठता है। किन्तु जब हमारे विस्तृत देश के भूखे, पीड़ित, अनाश्रित कृषक-कुटुम्ब सड़कों पर भटक-भटक कर हेमावृत धरती पर बैठ कर अपने भाग्य को कोसने लगते हैं, जब उनके हृदय मे सुरक्षित आशा की अन्तिम दीप्ति बुझ जाती है, तब एक आह तक नही उठती। न जाने कब तक वह बुझी हुई राख पड़ी रहती है—पड़ी रहेगी!—किन्तु किसी दिन, सुदूर भविष्य में, किसी घोर झंझा से, उसमें फिर चिनगारी निकलेगी! उसकी ज्वाला—घोरतम, अनवरुद्ध, प्रदीप्त ज्वाला!—किधर फैलेगी, किसको भस्म करेगी, किन नगरों और प्रान्तों का मान मर्दन करेगी—कौन जाने?"

मुझे रोमाञ्च हो आता है, मैं मन्त्रमुग्ध की तरह निश्चेष्ट होकर उस दिन की घटना पर विचार करने लग जाता हूँ।

रात्रि के आठ बज रहे थे। मैं मॉस्को में अपने कमरे मे बैठा लैम्प के प्रकाश में धीरे-धीरे कुछ लिख रहा था। पास मे एक छोटी मेज़ पर भोजन के भूठे बर्तन पड़े थे। इधर-उधर,

दीवार पर टँगी या अंगीठी पर रखी हुई मेरे संग्रह की वस्तुएँ थीं।

बाहर वर्षा हो रही थी। छत पर से जो आवाज़ आ रही थी, उससे मैंने अनुमान किया कि ओले भी पड़ रहे हैं, किन्तु उस जाड़े से उठकर देखने की सामर्थ्य मुझ में नहीं थी। कभी कभी लैम्प के फीके प्रकाश पर खीझने के अतिरिक्त मैं बिल्कुल एकाग्र होकर दूसरे दिन पढ़ने के लिए 'सफल क्रान्ति' पर एक छोटा-सा निबन्ध लिख रहा था।

'सफल क्रान्ति क्या है? असंख्य विफल जीवनियों का, असंख्य निष्फल प्रयत्नों का, असंख्य विस्मृत आहुतियों का, अशान्तिपूर्ण किन्तु शान्तिजनक निष्कर्ष!'

(उन दिनों मैं मॉस्को के एक स्कूल में अध्यापक था। वहाँ इतिहास पढ़ाने में और कभी-कभी क्रान्तिविषयक लेख लिखने में तथा पढ़ने में मेरा समय बीत जाता था। क्रान्ति का अर्थ मैं समझता था या नहीं, यह नहीं कह सकता। आज मैं क्रान्ति के विषय में अपनी अनभिज्ञता को ही कुछ-कुछ जान पाया हूँ!)

एकाएक किसी ने द्वार खटखटाया। मैंने बैठे ही बैठे उत्तर दिया, "आजाओ!" और लिखने में लगा रहा। द्वार खुला और बन्द हो गया। फिर उसी अविरल जलधारा की आवाज़ आने लगी—कमरे में निस्तब्धता छा गई। मैंने कुछ विस्मित होकर आँख उठाई, और उठाए ही रह गया।

बहुत मोटा-सा ओवरकोट पहने, सिर पर बड़े-बड़े बालों

वाली टोपी रखे, गले मे लाल रुमाल बाँधे, दरवाज़े के पास खड़ी एक स्त्री एकटक मेरी ओर देख रही थी। उसके कपड़े भीगे हुए थे, टोपी में कहीं-कहीं एक-आध ओला फँस गया था। पैरो मे उसने घुटने तक पहुँचनेवाले बड़े-बड़े भद्दे रूसी बूट पहन रखे थे, जो कीचड़ में सने हुए थे। ऊपर टोपी और नीचे रुमाल के कारण उसके मुँह का बहुत थोड़ा भाग दीख पड़ता था। इस प्रकार आवृत होने पर भी उसके शरीर में एक लचक, और साथ ही एक खिंचाव का आभास स्पष्ट होता था, मानो कपड़ों से ढँककर एक तने हुए धनुष की प्रत्यञ्चा सामने रख दी गई हो। आँखे नहीं दीखती थीं, किन्तु उन ओठों की पतली रेखा देखने से भावना होती थी कि उसके पीछे विद्युत् की चपलता के साथ ही वज्र की कठोरता दबी हुई है ..

मै क्षण भर उसकी ओर देखता रहा, किन्तु वह कुछ बोली नहीं। मैंने ही मौन भंग किया, "कहिए, क्या आज्ञा है ?" कोई उत्तर नहीं मिला। मैंने फिर पूछा, "आप का नाम जान सकता हूँ ?"

उसने धीरे-धीरे कहा, मानो प्रत्येक शब्द तौल-तौलकर रखा हो, "मैंने सुना था कि क्रान्तिकारियों से आप को सहानुभूति है, और आपने इस विषय पर व्याख्यान भी दिए है। इसी सहानुभूति की आशा से आप के पास आई हूँ।"

मैं काँप गया। मेरी इस सहानुभूति की चर्चा बाहर होती है, और क्रान्तिकारियो तक को इस का ज्ञान है, फिर मुझमे

और क्रान्तिकारियों में भेद क्या है? कहीं यह मॉस्को के राजनैतिक विभाग की जासूस तो नहीं है? मेरी नौकरी...शायद साइबेरिया की खानों में आयु भर.. पर अगर यह जासूस होती, तो ऐसी दशा में क्यों आती? ऐसे बात क्यों करती? इससे तो साफ़ सन्देह होने लगता है. जासूस होती तो विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा करती...पर क्या जाने, विश्वास उत्पन्न करने का शायद इसका यही ढंग हो.. खैर कुछ भी हो, संभलकर बात करनी होगी।

मैंने उपेक्षा से कहा, "आप साफ़-साफ़ कहिए, बात क्या है? मैं आप का अभिप्राय नहीं समझा।"

वह बोली, "मैं क्रान्तिकारिणी हूँ। मुझे अभी कुछ रुपए की आवश्यकता है। आप दे सकेंगे?"

"किसलिए?"

वह कुछ देर के लिए असमञ्जस में पड़ गई, मानों सोच रही हो कि उत्तर देना चाहिए या नहीं। फिर उसने धीरे-धीरे ओवर-कोट के बटन खोले और भीतर से एक तलवार—रक्तरञ्जित तल-वार!—निकाली। इतनी देर में उसने आँख पल भर भी मुझ पर से नहीं हटाई। मुझे मालूम हो रहा था, मानों वह मेरे अन्तरतम विचारों को भाँप रही हो। मैं भी मुग्ध होकर देखता रहा..

वह बोली, "यह देखो! जानते हो, यह किस का रक्त है? कर्नल गोरोवूस्की का! और उसकी लोथ उसके घर के बाग़ में पड़ी हुई है!"

मै भौचक होकर बोला, " है ? कब ? "

"अभी एक घण्टा भी नहीं हुआ। उसी की तलवार, इन हाथों ने उसी के हृदय मे भोक दी ! तुम पूछोगे, क्यों ? शायद तुम्हे नहीं मालूम कि स्त्री कितना भीषण प्रतिशोध करती है !"

"तुम यहाँ क्यों आई ?"

"मुझे धन की ज़रूरत है। मॉस्को से भागने के लिए।"

"मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। तुम हत्यारिणी हो !"

वह एकाएक सहम-सी गई, मानों उसे इस उत्तर की आशा न हो। फिर धीरे-धीरे एक फीकी, विषादमय हँसी हँसकर बोली, "बस, यहीं तक थी तुम्हारी सहानुभूति ! इसी क्रान्तिवाद के लिए तुम व्याख्यान देते हो, यही तुम्हारे इतिहासों का निष्कर्ष है !"

" मैं क्रान्तिवादी हूँ, पर हत्यारा नहीं हूँ। इस प्रकार की हत्याओं से देश को लाभ नहीं, हानि होगी। सरकार ज्यादा दबाव डालेगी, मार्शल लॉ जारी होगा, फाँसियाँ होंगी। हमारा क्या लाभ होगा ? "

" तुम क्रान्ति को क्या समझते हो, गुड़ियों का खेल ? " यह कहती हुई वह मेरी मेज के पास आकर खड़ी होगई। मेज़ पर पड़े हुए कागज़ों को देखकर बोली, " यह क्या, 'सफल क्रान्ति ! असंख्य विफल जीवनियों का . विस्मृत आहुतियों का निष्कर्ष !' "

वह ठठाकर हँसी। " सफल क्रान्ति ! जानते हो, क्रान्ति के लिए कैसी आहुतियाँ देनी पड़ती हैं ?"

मैं कुछ उत्तर न दे सका। मैं उसे वह लेख पढ़ते हुए देखकर लज्जित हो रहा था।

वह फिर बोली, "तुम भी अपने-आप को क्रान्तिवादी कहते हो, हम भी। किन्तु हमारे आदर्शों में कितना भेद है! तुम चाहते हो, स्वातन्त्र्य के नाम पर विश्व जीतकर उसपर शासन करना; और हम!—हम इसी के चेष्टा में लगे हैं कि अपने हृदय इतने विशाल बना सकें कि विश्व उनमें समा जाय!"

मैंने किसी षड्यन्त्र में भाग नहीं लिया है—क्रान्तिवाद पर लेक्चर देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया है, फिर भी मैं अपने सिद्धान्तों पर यह आक्षेप नहीं सह सका। मैंने तन कर कहा, "तुम झूठ कहती हो। मैं सच्चा साम्यवादी हूँ। मैं चाहता हूँ कि संसार में साम्य हो, शासक और शासित का भेद मिट जाय। लेकिन इस प्रकार हत्या करने से यह कभी सिद्ध नहीं होगा। जिसे तुम क्रान्ति कहती हो, उसके लिए अगर यह करना पड़ता हो, तो मैं उस क्रान्ति का विरोध करूँगा, उसे रोकने का भरसक प्रयत्न करूँगा। इसके लिए अगर प्राण भी—"

"क्रान्ति का विरोध करोगे, उसे रोकोगे, तुम? सूर्य का उदय होता है, उसको रोकने की चेष्टा की है? समुद्र में प्रलय लहरी उठती है, उसे रोका है? ज्वालामुखी में विस्फोट होता है, धरती काँपने लगती है, उसे रोका है? क्रान्ति सूर्य से भी अधिक दीप्तिमान, प्रलय से भी अधिक भयंकर, ज्वाला से भी अधिक उत्तप्त, भूकम्प से भी अधिक विदारक है..उसे क्या रोकोगे!"

"शायद न रोक सकूँ। लेकिन मेरा जो कर्त्तव्य है, वह तो पूरा करूँगा।"

"क्या कर्त्तव्य ? लेक्चर झाड़ना ?"

"देश मे अपने विचारो का निदर्शन, अहिंसात्मक क्रान्ति का प्रचार।"

"अहिंसात्मक क्रान्ति ! जो भूखे, नंगे, प्रपीड़ित है, उनको जाकर कहोगे, चुपचाप विना आह भरे मरते जाओ ! रूस की भयंकर सर्दी मे वर्फ के नीचे दव जाओ, लेकिन इस बात का ध्यान रखना कि तुम्हारी लोथ किसी भद्रपुरुप के रास्ते मे न आ जाय ! रोते हुए वच्चो से कहोगे, माता की छातियों की ओर मत देखो, वाहर जाकर मिट्टी-पत्थर खाकर भूख मिटाओ ! और अत्यचारी शासक तुम्हारी ओर देखकर मन ही मन हँसेगे, और तुम्हारी अहिंसा की आड़ मे निर्धनो का रक्त चूसकर ले जाएँगे ! यही है तुम्हारी शान्तिमय क्रान्ति, जिसका तुम्हे इतना अभिमान है।"

"अगर शासक अत्याचार करेगे, तो उनके विरुद्ध आन्दोलन करना भी तो हमारा धर्म होगा।"

"धर्म ? वही धर्म, जिसे तुम एक स्कूल की नौकरी के लिए वेच खाते हो ? वही धर्म, जिसके नाम पर तुम स्कूल मे इतिहास पढ़ाते समय इतने झूठ बकते हो ?"

मैने क्रुद्ध होकर कहा, "व्यक्तिगत आक्षेपो से कोई फ़ायदा

नहीं है। ऐसे तो मैं भी पूछ सकता हूँ, तुम्हीं ने कौन बड़ा बलिदान किया है ? एक आदमी को मारकर भाग आई, यही न ?"

मुझे उसपर बड़ा क्रोध आ रहा था। किन्तु जिस तरह वह छाती के बटन खोले, हाथ में तलवार लिए, चामुण्डा की तरह खड़ी मेरी ओर देख रही थी, उसे देखकर मेरा साहस ही नहीं पड़ा कि उसे निकाल दूँ! मैं प्रश्न पूछकर उसकी ओर देखने लगा। मुझे आशा थी कि वह मुझपर से दृष्टि हटा लेगी, मेरे प्रश्न का उत्तर देते घबराएगी, क्रुद्ध होगी। किन्तु यह सब कुछ भी नहीं हुआ। वह धीरे से कागज हटाकर मेरी मेज के एक कोने पर बैठ गई, और तलवार की नोक मेरी ओर करती हुई बोली, "मैंने क्या किया है, सुनोगे तुम ? मैंने बलिदान कोई बड़ा नहीं किया, लेकिन देखा बहुत कुछ है। मेरे पास बहुत समय है—अभी गोरोवस्की का पता किसी को नहीं लगा होगा। सुनोगे तुम ?"

पहले मैंने सोचा, सुनकर क्या करूँगा ? अभी लेख लिखना है, कल स्कूल भी जाना होगा, और फिर पुलिस—इसे कह दूँ, चली जाय। लेकिन फिर एक अदम्य कौतूहल, और अपनी हृदयहीनता पर ग्लानि-सी हुई। मैंने उठकर अंगीठी में कोयले हिलाकर आग तेज कर दी, एक और कुरसी उठाकर आग के पास रख दी, और अपनी जगह बैठकर बोला, "हाँ, सुनूँगा। आग के पास उस कुर्सी पर बैठकर सुनाओ, सर्दी बहुत है।"

वह वहीं बैठी रही, मानो मेरी बात उसने सुनी ही न हो। केवल तलवार एक ओर रखकर, कुछ आगे की ओर झुककर

आग की ओर देखने लगी। थोड़ी देर देखकर चौंककर बोली, "हाँ सुनो। मैंने घर मे आरामकुर्सी पर बैठकर यन्त्रालयों मे पिसते हुए श्रमजीवियों के लिए साम्यवाद पर लेख नहीं लिखे है। न मैंने मञ्च पर खड़े होकर कृपकों को ज़बानी स्वातन्त्र्य-युद्ध की मरीचिका दिखलाइ है। मैंने घर-बार, माता-पिता, पति तक को छोड़कर धक्के ही धक्के खाए है। सौभाग्य बेचकर अपने विश्वास की रक्षा की है। स्वत्त्व बचाने के लिए पिता की हत्या की है .....और—और अपना स्त्रीरूप बेचकर देश के लिए भिक्षा माँगी है—और आज फिर माँगने निकली हूँ।"

मेरे मुँह से अकस्मात् निकल गया, "किससे ?"

इस प्रश्न से मानो उसकी विचार-शृंखला टूट गई। तलवार की ओर देखती हुई बोली, "यह फिर बताऊँगी—वह मेरे अन्तिम—मेरे एकमात्र बलिदान की कहानी है।"

"विश्वास और स्वत्त्व की रक्षा—पिता की हत्या—मुझे कुछ भी समझ नही आया।"

"मेरे पिता पीटर्सबर्ग मे पुलिस विभाग के सदस्य थे। मेरे पति भी वहाँ राजनैतिक विभाग मे काम करते थे। कुटुम्ब मे, वंश मे, एक मै ही थी, जिसने क्रान्ति का आह्वान सुना ..फिर भी, कितने विरोध का सामना करना पड़ा! पहले-पहल जब मैं क्रान्तिदल में आई, तो लोग मुझ पर सन्देह करने लग गए। न जाने किस अज्ञात शत्रु ने उनसे कह दिया, इसका पिता पुलिस में है, पति राजनैतिक विभाग मे, इससे विनाश के अतिरिक्त

और क्या आशा हो सकती है? मैंने देखा, इतनी कामना, इतनी सदिच्छा होते हुए भी मैं अनादृता, परित्यक्ता-सी हूँ... मेरे पति को भी मेरी वृत्तियों का पता लग गया। फलस्वरूप एक दिन मैं चुपचाप घर से निकल गई—उन्हें भी नौकरी छिन जाने का डर था! उसके बाद—उसके बाद मेरी परीक्षा का प्रश्न उठा! पति को छोड़ देने पर भी मुझे सदस्य नहीं बनाया गया—परीक्षा देने को कहा गया।। कितनी भयंकर थी वह!"

क्षण भर आग की ओर देखने के बाद फिर उसने कहना शुरू किया—"मैं और चार और व्यक्ति पिस्तौलें लेकर एक दिन सायंकाल को निकोलस पार्क में बैठ गए। उस दिन उधर से पीटर्सबर्ग की पुलिस दो बन्दियों को लेकर जानेवाली थी। इसी पर वार करके बन्दियों को छुड़ाने का काम हमारे सुपुर्द हुआ था। यही मेरी परीक्षा थी!

"हम रात तक वहीं बैठे रहे। नौ बजे के लगभग पुलिस के बूटों की आहट आई। हम सावधान हो गए। किसी ने पूछा, 'कौन बैठा है?' हमने उत्तर नहीं दिया, गोलियाँ दागनी शुरू कर दीं। दो मिनट के अन्दर निर्णय हो गया—हमारे तीन आदमी खेत रहे, पर हमें सफलता हुई। बन्दी मुक्त हो गए। हम चारों शीघ्रता से पार्क से निकलकर अलग हो गए।"

मैं बहुत ध्यान से सुन रहा था। ऐसी कहानी मैंने कभी नहीं सुनी थी—पढ़ी भी नहीं थी......मैंने व्यग्रता से पूछा, "फिर?"

"दूसरे दिन—दूसरे दिन मॉस्को में अखबार में पढ़ा, बन्दियों को लेकर जानेवाले अफ़सर थे—मेरे पिता !"

उस छोटे-से कमरे में फिर सन्नाटा छा गया। वर्षा अब भी हो रही थी। मैं विमनस्क-सा होकर छत पर पड़ रही बूँदें गिनने की चेष्टा करने लगा।

उसने पूछा, "और कुछ भी सुनोगे ?"

मैंने सिर झुकाकर उत्तर दिया, "मैंने तुम लोगों पर अन्याय किया है। वास्तव में तुम्हें बहुत उत्सर्ग करना पड़ता है। मैं अभी तक नहीं जान पाया था।"

"हाँ, यह स्वाभाविक है। एक अकेले व्यक्ति की व्यथा, एक आदमी का दुःख हम समझ सकते हैं। एक प्राणी को पीड़ित देखकर हमारे हृदय में सहानुभूति जगती है—एक हूक सी उठती है। किन्तु जाति, देश, राष्ट्र ! कितना विराट् होता है ! इसकी व्यथा, इसके दुःख से असंख्य व्यक्ति एक साथ ही पीड़ित होते हैं—इसमें इतनी विशालता, इतनी भव्यता है कि हम यही नहीं समझ पाते कि व्यथा कहाँ हो रही है, हो भी रही है या नहीं।"

"ठीक है। तुम्हें बहुत दुःख झेलने पड़ते हैं। किन्तु इस प्रकार अकारण दुःख झेलना, चाहे कितनी ही धीरता से झेला जाय, बुद्धिमत्ता तो नहीं है।"

"हमारे दुःख प्रसव-वेदना की तरह हैं, इसके बाद ही क्रान्ति-

का जन्म होगा। इसके बिना क्रान्ति की चेष्टा करना, क्रान्ति से फल प्राप्ति की आशा करना विडम्बना मात्र है।"

"लेकिन हरेक आन्दोलन किसी निर्धारित पथ पर ही चलता है, ऐसे तो नहीं बढ़ता?"

"क्रान्ति आन्दोलन नहीं है।"

"सुधार करने के लिए भी तो कोई आदर्श सामने रखना होता है?"

"क्रान्ति सुधार नहीं है।"

"न सही। परिवर्त्तन ही सही। लेकिन परिवर्त्तन का भी तो ध्येय होता है!"

"क्रान्ति परिवर्त्तन भी नहीं है।"

मैंने सोचा, पूछूँ, तो फिर क्रान्ति है क्या? किन्तु मैं बिना पूछे उसके मुख की ओर देखने लग गया। वह स्वयं बोली, "क्रान्ति आन्दोलन, सुधार, परिवर्त्तन कुछ नहीं है, क्रान्ति है विश्वासों का, रूढ़ियों का, शासन की और विचार की प्रणालियों का घातक, विनाशकारी, भयंकर विस्फोट! इसका न आदर्श है, न ध्येय, न धुर। क्रान्ति विपथगा है, विध्वंसिनी है, विदग्धकारिणी है!"

"ये तो सब बातें हैं। कवियों वाला शब्द-विन्यास है। ऐसी क्रान्ति से हमें मिलेगा क्या?"

वह हँसने लगी। "क्रान्ति से क्या मिलेगा? कुछ नहीं। जो कुछ है, शायद वह भी भस्म हो जायगा। पर इससे यह नहीं

सिद्ध होना कि क्रान्ति का विरोध करना चाहिए। हमें इस बात का ध्यान भी नहीं करना चाहिए कि हमे क्रान्ति करके क्या मिलेगा।"

"क्यों?"

"कोढ़ का रोगी जब डाक्टर के पास जाता है, तो यही कहता है कि मेरा रोग छुड़ा दो। यह नहीं पूछता कि इस रोग को दूर करके इसके बदले मुझे क्या दोगे! क्रान्ति एक भयंकर औषध है, यह कड़वी है, पीड़ाजनक है, जलानेवाली है, किन्तु है औषध। रोग को मार अवश्य भगाती है। किन्तु इसके बाद, स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिए, जिस पथ्य की आवश्यकता है, वह इसमें खोजने पर निराशा ही होगी, इसके लिए क्रान्ति को दोष देना मूर्खता है।"

मै निरुत्तर हो गया। चुपचाप उसके मुख की ओर देखने लगा। थोड़ी देर बाद बोला, "एक बात पूछूँ?"

"क्या?"

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"क्यों?"

"यों ही। कुतूहल है।"

"पिता ने जो नाम दिया था, वह उस दिन छूट गया, जिस दिन विवाह हुआ। पति ने जो नाम दिया था, उसे मैं आज भूल गई हूँ। अब मेरा नाम मेरिया इवानोव्ना है।"

कुछ देर हम फिर चुप रहे। मैंने तलवार की ओर देखते हुए पूछा, "यह—यह कैसे हुआ ?"

उसके उन विचित्र नील नेत्रों की सुषुप्त ज्वाला फिर जाग उठी। वह अपने हाथों की ओर देखती हुई बोली, "वह बहुत बीभत्स कहानी है।" फिर आप ही आप, "नहीं, रक्त नहीं लगा है।"

कुतूहल होते हुए भी मैंने आग्रह नहीं किया। इतनी देर मे मैं कुछ-कुछ समझने लगा था कि इस स्त्री (या दानवी ?) से अनुनय-विनय करना व्यर्थ है, इसपर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। मैं चुपचाप इसी आशा मे बैठा रहा कि शायद वह स्वयं ही कुछ कह दे। मुझे निराश भी नहीं होना पड़ा।

वह आग की ओर देखती हुई धीरे-धीरे बोली, "तो सुनो। आज जो-कुछ मैं कह रही हूँ, वह मैंने कभी किसी से नहीं कहा। शायद अब किसी से कहूँगी भी नहीं। जब मैं तुम्हारा पता पूछ कर यहाँ आई, तब मुझे ज़रा भी ख्याल नहीं था कि तुम से कुछ भी बात करूँगी। केवल रुपया माँगकर चले जाने की इच्छा से आई थी। अब—अब मेरा ख्याल बदल गया है। मुझे रुपया नहीं चाहिए। मैं—"

"क्यों ?"

"मैं अपना काम करके मॉस्को से भाग जाना चाहती थी। किन्तु अब नहीं भागूँगी।"

"और क्या करोगी ?"

"अभी एक काम बाक़ी है। एक बार और भिक्षा माँगनी है। उसके बाद—"

वह एकाएक रुक गई। फिर तलवार की धार पर तर्जनी फेरती हुई आप ही आप बोली, "कितनी तीक्ष्ण धार है यह !"

मैंने साहस करके पूछा, "भिक्षा की बात तुमने पहले भी कही थी, और बलिदान की भी। मैं कुछ समझ नही पाया था।"

"अब कहने लगी हूँ, तो सब कुछ कहूँगी। अब लज्जा के लिए स्थान नहीं रह गया है। स्त्रीत्व तो पहले ही खो दिया था, आज मानवता भी चली गई! और फिर—आज के बाद—सब कुछ एक हो जायगा। पर तुम चुपचाप सुनते जाओ, बीच में रोकना नहीं।"

मै प्रतीक्षा मे बैठ रहा। वह इस तरह निरीह होकर कहानी कहने लगी, मानो स्वप्न मे कह रही हो—मानो मशीन से ध्वनि निकल रही हो।

"तुमने माइकेल क्रेस्की का नाम सुना है ?"

"वही जो पीटर्सबर्ग में पुलिस के तीन अफसरो को मार कर लापता हो गए थे ?"

"हाँ, वही। वे हमारी संस्था के प्रधान थे।' यह कहकर उसने मेरी ओर देखा। मै कुछ नही बोला, किन्तु मेरे मुख पर विस्मय का भाव उसने स्पष्ट देखा होगा। वह फिर कहने लगी, "वे कल यहीं मॉस्को में गिरफ़ार हो गए है।"

क्षण भर निस्तब्धता रही।

“पर उनको गिरफ़्तार करके ले जाने पर भी पुलिस को यह नही पता लगा कि वे कौन है। वे इसी सन्देह पर गिरफ़्तार किए, गए थे कि शायद क्रान्तिकारी हों। मुझे इस बात की ख़बर मिली, तो मैंने निश्चय किया कि जाकर पता लगाऊँ। मैं यह साधारण गँवार स्त्री की पोशाक पहनकर पुलिस विभाग के दफ़्तर में गई। वहाँ जाकर मैंने अपना परिचय यही दिया कि मैं उनकी बहिन हूँ, गाँव से उन्हें लेने आई हूँ। तब तक पुलिस को उनपर कोई सन्देह नहीं हुआ था। लेकिन वे इधर-उधर से—पीटर्सबर्ग से भी—पूछताछ कर रहे थे।

“पहले तो मैंने सोचा कि पीटर्सबर्ग से अपने साथियो क
बुला भेजूँ, उनसे मिलकर इन्हें छुड़ाने का प्रयत्न करूँ। लेकि
इसके लिए समय नहीं था—न जाने कब उन्हे पीटर्सबर्ग
उत्तर आ जाय! मै अकेली सिवाय अनुनय-विनय के
कर सकती थी...उफ! अपनी अशक्तता पर कितना क्रोध आ
था। मैं दाँत पीसकर रह गई. जब तक ऐसे समय में अ
असमर्थता, निस्सहायता का अनुभव नही होता, तब तक अ
की आवश्यकता भी पूरी तरह से नही समझ आ सकती।”

मेरी ओर देख और मुझे ध्यान से सुनता पाकर व
बोली—

“फिर—फिर मैंने सोचा, जो कुछ मै अकेले कर स
वह करना ही होगा! अगर गिड़गिड़ाने से उन्हें छुड़ा सके
करना होगा, चाहे बाद मे मुझे फाँसी पर भी लटकना

निश्चय कर लिया—मेरी हिचकिचाहट दूर हो गई। कल ही शाम को मैं जनरल कोलिपन के बँगले पर गई। उस समय वहाँ कर्नल गोरोव्स्की भी मौजूद था। पहले तो मुझे अन्दर जाना ही नहीं मिला, दरवान ने जो कुछ मेरे पास था, तलाशी में निकाल कर रख लिया। बहुत गिड़गिड़ाकर मैं अन्दर जा पाई!

"पहले जनरल कोलिपन ने मुझे देखकर डाँट दिया। फिर न जाने क्या सोचकर बोला, 'क्यों, क्या बात है?' मैंने अपनी गढ़ी हुई कहानी कह सुनाई कि मेरा भाई निर्दोष था, पुलिस ने यों ही उसे पकड़ लिया। जनरल साहब बहुत बड़े आदमी हैं, सब कुछ उनके हाथ में है, जिसे चाहें उसे छोड़ सकते हैं...मै उसके आगे रोई भी, उसके पैर भी पकड़े—उसके जिसकी मैं ज़बान खींच लेती!

"वह चुपचाप सुनता रहा। जब मै कह चुकी, तब भी कुछ नहीं बोला। थोड़ी देर बाद उसने आँख से गोरोव्स्की को इशारा किया। कुछ कानाफूसी हुई। गोरोव्स्की ने मुझे कहा, 'इधर आओ, तुमसे कुछ बात करनी है।' मैं उसके साथ दूसरे कमरे में चली गई। वहाँ जाकर वह बोला, 'देखो, अभी सब कुछ हमारे हाथ में है, पर कल के बाद नहीं रहेगा। हमे उसे अदालत मे ले जाना होगा। फिर—'

"यह कहकर वह चुप हो गया। मैंने कहा, 'आप मालिक हैं, जैसा कहेंगे मैं करूँगी।' वह बोला, 'जनरल साहब तुम्हारे भाई पर दया करने को तय्यार है—एक शर्त पर।' मैंने उत्सुक होकर

पूछा, क्या ? वह मेरे बहुत पास आ गया। फिर धीरे-धीरे बोला, 'मेरिया इवानोव्ना, तुम अपूर्व सुन्दरी हो'..."

वह बोलते-बोलते चुप हो गई। मैंने सिर उठाकर उसकी ओर देखा, उसकी आँखें विचित्र ज्योति से चमक रही थीं। वह एकाएक मेज़ पर से उठकर मेरे सामने खड़ी हो गई। बोली, "जानते हो, उसकी क्या शर्त थी, जानते हो ? ऐसी शर्त तुम्हें स्वप्न मे भी न सूझेगी... यही एक शर्त थी, यही एक मात्र बलिदान था, जिसके लिए मैं तय्यार होकर नही गई थी .."

वह फिर चुप हो गई। दोनो हाथों से अपनी कमीज का कालर और गले का रुमाल पकड़कर कुछ देर मेरी ओर देखती रही। फिर एकाएक झटका देकर कमीज़ और रुमाल फाड़ती हुई बोली, "देखो, अध्यापक ! ऐसा सौन्दर्य तुमने कभी देखा है ?"

उसका मुख, जो कि रुमाल और टोपी से ढका हुआ था, अब एकदम स्पष्ट दीख रहा था। उसके नीचे उसका गला और वक्ष भी खुला हुआ था . उसका वह अपूर्व लावण्य, वह प्रस्फुटित सौन्दर्य, अधरों पर दबी हुई विषादयुक्त मुस्कान, हेमवर्ण कण्ठ और वक्ष . ऐसा अनुपम सौन्दर्य सचमुच मैंने पहले नही देखा था मेरे शरीर मे बिजली दौड़ गई— फिर मैंने दृष्टि फेर ली...

किन्तु उसकी वह आँखे . विस्फारित, निर्निमेष...उनका वह तुषार-कणों की तरह शीतल प्रदीपन...उनमें विराग, क्रोध, करुणा, व्यथा की अनुपस्थिति...वह शुक्रतारे की हरित ज्योति...!

"यह है बलि! यह स्त्री का रूप है माइकेल क्रेस्की की मुक्ति का मूल्य!"

मैंने चाहा, कुछ कहूँ, चिल्लाऊँ, पर बहुत चेष्टा करने पर भी आवाज़ नहीं निकली!

"उसने, उस नर-पिशाच गोरोवस्की ने, मेरे पास आकर कहा, 'मेरिया इवानोव्ना, तुम अपूर्व सुन्दरी हो—तुम्हारे लिए अपने भाई को छुड़ा लेना साधारण-सी बात है' मुझपर मानो बिजली गिरी। क्षण भर मुझे इस शर्त का पूरा अभिप्राय भी न समझ आया। फिर समुद्र की लहरों की तरह मेरे हृदय में क्रोध उमड़ आया। मेरा मुख लाल हो गया। मैंने कहा, 'पापी! कुत्ते!' और तीव्र गति से बाहर निकल गई। किन्तु पीछे उसकी हँसी और ये शब्द सुनाई पड़े—'कल शाम तक प्रतीक्षा है, उसके बाद—'

"बाहर ठण्डी हवा में आकर मेरी सुध कुछ ठिकाने आई। मैं शान्त होकर सोचने लगी, मेरा कर्त्तव्य क्या है? माइकेल क्रेस्की का गौरव अधिक है या उन्हे मर जाने दूँ? कभी नहीं! छुड़ाऊँ तो कैसे? इसी आशा में बैठ रहूँ कि शायद पुलिस को पता न लगे? प्रतारणा! कहीं वे उन्हें पहचान गए तो .! पीटर्सबर्ग से किसी को बुलाऊँ? पर उसके लिये समय कहाँ है! अकेली क्या करूँगी? वह शर्त !

" प्रधान, हमारा कार्य, देश, राष्ट्र! इसके विरुद्ध क्या? एक स्त्री का सतीत्त्व .! मैंने निर्णय कर लिया। शायद मुझसे ग़लती हुई; शायद इस निर्णय के लिए संसार, मेरे अपने क्रान्ति-

वादी वन्धु, मेरे नाम पर थूकेंगे ; शायद मुझे नरक की यातना भोगनी पड़ेगी पर जो यातना मैंने निर्णय करने में सही है, उससे अधिक नरक में भी क्या होगा ?"

वह फिर ठहर गई। अब की वार मुझसे नहीं रहा गया। मैंने अत्यन्त व्यग्रता से पूछा, "क्या निर्णय किया है ?"

"अभी यहीं से जनरल कोल्पिन के घर जाऊँगी। पर सुनो; अभी मेरी कहानी समाप्त नहीं हुई। आज छः बजे मैं कर्नल गोरोवृस्की के घर गई। मेरे आते ही वह हँसकर बोला, 'मेरिया, तुम जितनी सुन्दर हो, उतनी ही बुद्धिमती भी हो। इज्ज़त तो बार बार बिगड़कर भी बन जाती है, भाई बार-बार नहीं मिलते !' मैंने सिर झुकाकर कहा, 'हाँ, आप साहब से कहला भेजें कि मुझे उनकी शर्त मंजूर है।'

"वह उस समय वर्दी उतारकर रख रहा था। बोला, 'तुम यहीं ठहरो, मैं टेलिफ़ोन पर कहे देता हूँ।' वह कोने में टेलिफ़ोन पर बात करने लगा। उसकी पीठ मेरी ओर थी। मुझे एकाएक कुछ सूझा. मैंने म्यान में से उसकी तलवार निकाल ली—दबे पाँव जाकर उसके पीछे खड़ी हो गई। टेलिफ़ोन पर बातचीत हो चुकी—गोरोवृस्की उसे बन्द करके घूमने को ही था कि मैंने तलवार उसकी पीठ में भोंक दी ! उसने आह तक नहीं की—अनाज की बोरी की तरह भूमि पर बैठ गया ! फिर मैंने उसकी लोथ उठाकर खिड़की से बाहर डाल दी—और भाग निकली !"

मैंने पूछा, "तुम्हारे इन हाथों में इतनी शक्ति !"

वह हँस पड़ी, बोली, "मैं क्रान्तिकारिणी हूँ। यह देखो!"

उसने तलवार उठाई, एक हाथ से मूठ और दूसरे से नोक थामकर बोली, "यह देखो!" देखते-देखते उसने उसे चपटी ओर से घुटने पर मारा—तलवार दो टूक हो गई! उसने वे दोनों टुकड़े मेरी मेज़ पर रख दिए।

मैंने पूछा, "अब—अब क्या करोगी?"

"अब कोल्पिन के यहाँ जाऊँगी। क्रेस्की को छुड़ाऊँगी। उसके बाद? उसके बाद—"

उसने अपनी जेब में हाथ डालकर एक छोटा-सा रिवाल्वर निकाला। "यह भी गोरोवूस्की के यहाँ से मिल गया।"

"पर—इसका क्या करोगी?"

"प्रयोग!" कहकर उसने उसे छिपा लिया।

इसके बाद शायद चार-पाँच मिनट फिर कोई न बोला। मैंने उसकी सारी कहानी का मन ही मन सिंहावलोकन किया। उसमें कितनी वीभत्सता, कितनी करुणा थी! और उसका दोष क्या था? केवल इतना ही कि वह क्रान्तिकारिणी थी! एकाएक मुझे एक बात याद आ गई। मैंने पूछा, "तुमने कहा था कि तुमने पहले भी भिक्षा माँगी थी—इसी प्रकार की। वह क्या बात थी, बताओगी?"

वह अब तक खड़ी थी, अब फिर मेज़ पर बैठ गई। बोली, "वह पुरानी बात है। उन दिनों की, जब मैं पीटर्सबर्ग से भागी

थी। अकेली नहीं, साथ में एक लड़की भी थी—तुमने पॉलिना का नाम सुना है?"

"हॉं, सुना तो है। इस समय याद नहीं आ रहा कि कहाँ।"

"वह नोव्‌गोरोड् में पकड़ी गई थी—वेश्याओं की गली में—और गोली से उड़ा दी गई थी।"

"हॉं, मुझे याद आ गया। उसके बाद बहुत शोर भी मचा था कि यह क्यों हुआ, लेकिन कुछ पता नहीं लगा।"

'हाँ। उस दिन मै भी नोव्‌गोरोड् में थी—उसी घर मे! हम दोनो वहॉं रहती थीं। एक वेश्या के यहाँ ही। वहीं, नित्य प्रति रात को लोग आते थे, हमारे शरीरों को देखते थे, गन्दे संकेत करते थे, और हम बैठी सब कुछ देखा करती थीं। वहॉं, जब वे चूसे हुए नीबू की तरह बीमारियों से घुले हुए पूँजीपति साफ-साफ कपड़े पहनकर इठलाते हुए आते थे—उफ़! जिसने वह नहीं देखा, वह पूँजीवाद और साम्राज्यवादका दूरव्यापी परिणाम नहीं समझ सकता! धन के आधिक्य से ही कितनी बुराइयॉं समाज मे आ जाती है—इसको जानने के लिए वह देखना जरूरी है!

"फिर वे आसपास की कोठरियों में चले जाते थे...किसी किसी में अँधेरा हो जाता था...फिर .."

थोड़ी देर वह चुप रही। फिर बोली, "कभी-कभी उनमे एक-आध नवयुवक भी आता था—शान्त, सुन्दर, सुडौल ..उनके आने पर वह घर—और उसमें रहनेवाले—कितने विद्रूप, कितने

वीभत्स मालूम होने लगते थे.. किन्तु शायद अगर वे न आते, तो हमारी वहीं मृत्यु हो जाती—इतना ग्लानिमय दृश्य था वह !

"यही थे हमारे सहायक, हमारे सहकारी ..हमें पीटर्सबर्ग से जो ऐलान बाँटने के लिए आते थे, वे हम इन्हें दे देती थीं—ये उन्हें बाँट आते थे। नोव्गोरोड् में हमने अपनी संस्था की शाखा इसी तरह बनाई। फिर नोव्गोरोड् से आर्कएञ्जेल, फिर जेरोस्लावल, फिर पीटर्सबर्ग और फिर वापस नोव्गोरोड् ..आर्कएञ्जेल मे तीन गवर्नरों की हत्या हुई, जेरोस्लावल में राजकर्मचारियों के घर जला दिए गए, नोव्गोरोड् मे पुलिस के कई अफसर मारे गए। फिर—पॉलिना पकड़ी गई, और मैं मॉस्को में आ गई "

"पर वह पकड़ी कैसे गई ?"

"वे मुहल्ले जिनमें हम रहते थे, रात ही को खुलते थे . दिन मे वे वैसे ही पड़े रहते थे, जैसे विस्फोट के बाद ज्वालामुखी का फटा हुआ शिखर . पर उस दिन ज़रूरी काम था—पॉलिना मोटा-सा कोट पहन, मुँह ढककर बाहर निकली। उसकी जेब मे कुछ पत्र थे और एक पिस्तौल, और वह पत्र पहुँचाने जा रही थी। इसी समय—"

घड़ी मे टन् ! टन् ! ग्यारह बज गए। वह चौंककर उठी और बोली, "बहुत देर हो गई—अब मै जाती हूँ।"

"कहाँ ?"

"कोलिपन के यहाँ—अन्तिम भिक्षा माँगने।"

उसने शीघ्रता से अपने कोट के बटन बन्द किए और उठ खड़ी हुई। मैं भी खड़ा हो गया।

मैंने रुक-रुककर कहा, "स्वातन्त्र्य-युद्ध में बहुत सिरों की बलि देनी पड़ती है।" मानों मैं अपने-आप को ही समझा रहा होऊँ।

वह बोली, "ऐसे स्वातन्त्र्य-युद्ध में सिर अधिक टूटते हैं या हृदय—कौन कह सकता है?"

मैं चुप होकर खड़ा रहा। वह कुछ हँसी, फिर बोली, "जीवन कैसा विचित्र है, जानते हो, अध्यापक? मैं आई थी धन लेकर विलुप्त हो जाने, और चली हूँ, स्मृति-स्वरूप वह बोकर—वह अशान्ति का बीज!"

जिधर उसने संकेत किया था, मैं उधर देखता ही रह गया। लैम्प और आग के प्रकाश में लाल-लाल चमक रही थी—उस टूटी हुई तलवार की मूठ!

सहसा किवाड़ खुलकर बन्द हो गया। मेरा स्वप्न टूट गया—मैंने आँख उठाकर देखा।

वर्षा अब भी हो रही थी—ओले भी पड़ रहे थे। किन्तु वह—वह वहाँ नहीं थी। था अकेला मैं—और वह अशान्ति का बीज!

वह बीज कैसे प्रस्फुटित हुआ, यह फिर कहूँगा। कभी उस दिन की घटना पूरी कहनी है।

वह चली गई। पर मैं फिर अपना लेख नहीं लिख सका...

एक बार मैंने काग़ज़ों की ओर देखा, 'सफल क्रान्ति!' दो शब्द मेरी ओर देखकर हँस रहे थे... 'विस्मृत आहुतियो का शान्ति-जनक निष्कर्ष!' प्रवञ्चना! मैंने वे काग़ज़ फाड़कर आग में डाल दिए। फिर भी शान्ति नहीं मिली। मैं सोचने लगा, इसके बाद वह क्या करेगी? कोल्पिन के घर मे... माइकेल क्रेस्की तो शायद मुक्त हो जायँगे . किन्तु उसके बाद?...

उस उद्धार के फल-स्वरूप आनन्द, उल्लास, गौरव—कहाँ होंगे? वहाँ होगी व्यथा, प्रज्वलन, पशुता का ताण्डव! जहाँ स्वतन्त्रता का उद्दाम आह्वान होना चाहिए, वहाँ क्या होगा?—एक स्त्री-हृदय के टूटने की धीमी आवाज़!

मैने जाकर लैम्प बुझा दिया। कमरे मे अँधेरा छा गया, केवल कहीं-कहीं अंगीठी की आग से लाल-लाल प्रकाश पड़ने लगा, और उसमें कुर्सी की टाँगो की छाया एक विचित्र नृत्य करने लगी! मैं उसे देखते देखते फिर सोचने लगा—इसी समय कोल्पिन के घर मे न-जाने क्या हो रहा होगा . मेरिया वहाँ पहुँच गई होगी— शायद अब तक क्रेस्की मॉस्को की किसी गली में छिपने के लिए चल पड़े हो . वे क्या सोचते होंगे कि उनका उद्धार कैसे हुआ? मेरिया को बात उन्हे मालूम होगी? शायद वहाँ उनका मिलन हो जाय—किन्तु कोल्पिन क्यों होने देगा? मेरिया के बलिदान की बात शायद कोई न जान पाएगा—किसी को भी मालूम नहीं होगा ..असीम समुद्र मे बहते हुए एकाएक बुझ जानेवाले दीप की तरह उसकी कथा वहीं समाप्त हो

जायगी—और मैं उसका नाम तक नहीं जान पाऊँगा ! कैसी विडम्बना है यह !

घड़ी में बारह बजे। मैं चौंका एक अत्यन्त वीभत्स दृश्य मेरी आँखों के आगे नाच गया। कोलिपन और मेरिया...उस दृश्य के विचार को भी मैं नहीं सह सका ! मैंने उठकर किवाड़ खोल दिए और दरवाज़े के बीच में खड़ा होकर वर्षा को देखने लगा। कभी-कभी एक-आध ओला मेरे ऊपर पड़ जाता था, किन्तु मुझे उसका ध्यान भी नहीं हुआ। मैं आँखें फाड़कर रात्रि के अन्धकार में वर्षा की बूँदें देखने की चेष्टा कर रहा था...

पूर्व में जब धुँधला सा प्रकाश हो गया, तब मेरा वह जाग्रत स्वप्न टूटा। तब मुझे ज्ञान हुआ कि मेरे हाथ-पैर सर्दी से संज्ञा-शून्य हो गए हैं। मैंने मानो वर्षा से कहा, 'वहाँ जो कुछ होना था, अब तक हो चुका होगा।' फिर मैं किवाड़ बन्दकर अन्दर जाकर लेट गया और अपने ठिठुरे हुए अंगों को गर्मी पहुँचाने के लिए कम्बल लपेटकर पड़ रहा ..

उस दिन की घटना यहीं समाप्त होती है; पर उसके बाद एक-दो घटनाएँ और हुई, जिनका इससे घनिष्ट सम्बन्ध है। वह भी यहीं कहूँगा।

इसके दूसरे दिन मैंने पढ़ा, "कल रात को जनरल कोलिपन और कर्नल गोरोवूस्की दोनों अपने घरों में मारे गए। जनरल कोलिपन की हत्या एक स्त्री ने रिवाल्वर से की। उनको मारने के बाद उसने उसी रिवाल्वर से आत्मघात कर लिया। कर्नल

गोरोव्स्की घर मे तलवार से मारे पाए गए। कहा जाता है कि उनकी अपनी तलवार और रिवाल्वर दोनों ग़ायब है। जिस रिवाल्वर से जनरल कोल्पिन की हत्या की गई, उसपर गोरोव्स्की का नाम लिखा हुआ है, इससे अनुमान किया जाता है कि गोरोव्स्की और कोल्पिन की घातक यही स्त्री है। पुलिस ज़ोरों से अनुसंधान कर रही है, लेकिन अभी इसके रहस्य का कुछ पता नहीं लगा है।"

क्रेस्की का कहीं नाम भी नहीं था।

यह रहस्य आज भी नही खुला। हॉ, इसके कुछ दिन बाद मैंने सुना कि माइकेल क्रेस्की पीटर्सबर्ग के पास पुलिस से लड़ते हुए मारे गए

वह रहस्य दबा ही रह गया। शायद माइकेल क्रेस्की को स्वयं भी कभी यह नही ज्ञात हुआ कि वे मॉस्को से उस दिन आधी रात के समय क्यो एकाएक छोड़ दिए गए ..

किन्तु अशान्ति का जो बीज मेरे हृदय मे बोया गया था, वह नही दब सका। जिस दिन मैंने सुना कि माइकेल क्रेस्की मारे गए, उस दिन मेरी धमनियो मे रूसी रक्त खौल उठा. . क्रेस्की के कारण नही, किन्तु मेरिया के शब्दो की स्मृति के कारण। मैंने अपने स्कूल मे एक व्याख्यान दिया, जिसमे जीवन मे पहली बार विशुद्ध हृदय से मैंने क्रान्ति का समर्थन किया था...

इसके बाद मुझे रूस से निर्वासित कर दिया गया, क्योंकि क्रान्ति के पोषकों के लिए रूस मे स्थान नहीं था!

आज मै पैरिस मे रहता हूँ। मॉस्को की तरह अब भी मैं अध्यापन का काम कर रहा हूँ, किन्तु अब उसमे मेरी रुचि नहीं है। आज भी मैं क्रान्ति-विषयक पुस्तको का अध्ययन करता हूँ, किन्तु अब पढ़ते समय मेरा ध्यान अपनी अनभिज्ञता की ओर ही रहता है। आज भी मेरा वह संग्रह उसी भाँति पड़ा है, किन्तु अब उसकी सब से अमूल्य वस्तु है वह टूटी हुई तलवार! हाँ, अब मैंने व्याख्यान देना छोड़ दिया है—अब एक विचित्र विषादमय अशान्ति, एक विक्षोभमय ग्लानि, मेरे हृदय मे घर किए रहती है...

ज्वालामुखी से आग निकलती है और बुझ जाती है, किन्तु जमे हुए लावा के काले-काले पत्थर पड़े रह जाते है। आँधी आती है और चली जाती है, किन्तु वृक्षो की टूटी हुई शाखे सूखती रहती है। नदी में पानी चढ़ता है और उतर जाता है, किन्तु उसके प्रवाह से एकत्रित घास-फूस, लकड़ी, किनारे पर सड़ती रह जाती है। यह टूटी तलवार भी उसके आवागमन का स्मृति-चिह्न है। जब भी इसकी ओर देखता हूँ, दो धधकते हुए, निर्निमेष चक्षु मेरे आगे आ जाते है, मै सहसा पूछ बैठता हूँ, "मेरिया इवानोव्ना, तुम मानवी थीं, या दानवी, या स्वर्ग-भ्रष्टा विपथगा देवी?"

पगोडा वृक्ष

'सुखदा' को

मुल्तान जेल,
अक्टूबर, १९३३

१

उस वृक्ष में पत्ते नहीं थे।

उसकी यही विशेषता थी—विधवा के हृदय की तरह उसमें विस्फोट धीरे-धीरे वृद्धिगत नहीं होता था, उसके लिए वसन्त की वासना के कोमल अंकुर नहीं फूटते थे, न बाल-लीलामयी मधुर झकोरें आती थीं, न नवयौवन के चिकने पत्ते ही निकल पाते थे.. ...केवल वर्ष में एक बार, उत्तप्त ग्रीष्म की वेदना में, प्रगल्भ यौवन के उन्मद सौरभ से भरे, हल्के पीले हृदयवाले श्वेत तारक-फूल, एकाएक ही उसके सर्वांग पर छा जाते थे—उसकी नंगी वीभत्स शाखें एकाएक ही अदृश्य हो जाती थीं . ...

जीवन ! वे मानों प्रौढ़ावस्था के फूल ! वसन्त में, जब और सब वृक्ष फूल रहे होते थे, तब उसमें लम्बे-लम्बे, कठोर-से पत्ते मात्र खड़े होते थे—मानो सामन्तों की पाँत में शूद्र-पुत्र खड़ा हो...पर ग्रीष्म की मरुस्थली में, जब वसन्त का यौवन और जीवन बिखर चुका होता था, तब उस वृक्ष की चिरसंचित वेदना, ग्लानि, आत्मप्रतारणा मोहक रूप धारण करके फूट पड़ती थी—विराट् वेदना सुन्दर ही होती है !—उस वृक्ष का नंगापन छिप जाता था—या सौन्दर्य के आवरण के भीतर और भी नंगा हो जाता था। मानों किसी बुड्ढे ने संसार की तिरस्कार भरी

दृष्टि से लज्जित होकर अपने को यौवन के आवरण में लपेट लिया हो...

या किसी विधवा के हृदय में एकाएक प्रेम का पूर्ण विकास हो उठा हो...

अभी वह दिन नहीं आया था। वसन्त समाप्त हो चुका था; वहुत दिन वृष्टि भी हो ली थी, किन्तु ग्रीष्म का आगमन नहीं हुआ था—वृक्ष के पत्ते गिर गए थे; पर फूल नहीं आए थे।

साँझ हो रही थी। आकाश में वादल के छोटे-छोटे टुकड़े मँडरा रहे थे। उनमें एक ओछा सौन्दर्य था, शक्तिहीन और दर्पहीन—वे वरस चुके थे। और वे मानो एक प्रकार के छिछोरे-पन से जमुना के जल में, अपना रंगीन प्रतिविम्व देखकर मुस्करा रहे थे ..

उस वृक्ष की नंगी शाखों-तले एक स्त्री वैठी हुई थी। वह एक स्थिर दृष्टि से वादलों की ओर देख रही थी, और शून्य भाव से एक पद की निरर्थक आवृत्ति किए जा रही थी—'प्रीतम इक सुमिरिनिया मोहि देहि जाहु।' धीरे-धीरे अन्धकार होता जा रहा था, किन्तु उसे इसका विल्कुल ध्यान नहीं था। वह मानो हमारे संसार से परे कहीं विचर रही थी, उसके लिए मानो हमारे काल की गति थी ही नहीं...

उसकी सफ़ेद धोती धुँधले प्रकाश में कुछ नीली-सी जान पड़ रही थी, और उसके मुख का वेदना-विकृत भाव भी एक फीकी मुस्कराहट का भ्रम उत्पन्न कर देता था। और, जिस मुद्रा

में वह बैठी हुई थी, उससे किसी भी दर्शक के हृदय में मूर्तिमती प्रतीक्षा की भावना जाग्रत हो जाती, यद्यपि उसने कई वर्षों से किसी की प्रतीक्षा नहीं की थी—प्रतीक्षा का विचार भी नहीं किया था—क्योंकि वह कई वर्षों से विधवा थी .

यह उसका नित्यक्रम था—नित्य ही सन्ध्या को वह अपने छोटे-से मकान – या झोंपड़े—के इस बागीचे मे आकर बैठ जाती थी और कभी-कभी घंटों बैठी रहती थी । जब वह इस प्रकार आत्मविस्मृत हो जाती, तब उसे अपनी दैनिक प्रार्थना का भी ध्यान नही रहता...तब तो किसी आकस्मिक शब्द से—किसी पशु के रँभाने से, या कभी वायु के झोंके से ही वह चौंक कर उठती थी और भीतर चली जाती थी..

आज भी यही दशा थी। उसके बैठे ही बैठे रात भी होने को आई, जो बादल बिखरे हुए थे, वे नई शक्ति पाकर पुनः आकाश मे छा गए—धीरे-धीरे एक अत्यन्त कोमल, निःशब्द-प्राय वर्षा भी होने लगी ; पर उसका ध्यान भंग नही हुआ। जब वायु के एक झोंके ने उसकी धोती के छोर को हिलाकर मानों कहा, 'उठो !' तब वह उसके गीलेपन से चौंकी, और एक बार मानों जाड़े से काँपकर, पेड़ के सहारे खड़ी हो गई और जल्दी-जल्दी अपने झोपड़े की ओर चल दी । वह वृक्ष मानो उत्सर्ग-भरी आवाज़ से बादलो से कहने लगा—'भिगो लो तुम भी मेरी नग्नता को !'

२

वह विधवा थी—उसका नाम था सुखदा। जब से उसका विवाह हुआ, तब से ही वह उस झोंपड़े में रहती थी। उसके विवाह को आज बारह वर्ष हो चुके थे—जिनमें से आठ उसने वैधव्य में काटे थे। विधवा हो जाने के बाद भी उसने वह घर नहीं छोड़ा—छोड़कर कहीं जाने को स्थान भी नहीं था। वह समाज की ही नहीं, व्यक्तिमात्र की परित्यक्ता थी; समाज की शरण की ही नहीं, किसी व्यक्ति के स्नेह से भी वञ्चिता थी; उसका अपना कोई नहीं था। जिस झोंपड़े में वह रहती थी, उसकी सफ़ाई इत्यादि करने के लिए एक बुढ़िया नित्य सवेरे आती थी, और दो घण्टे बाद चली जाती थी। सुखदा का संसार से कोई सम्बन्ध था तो इतना ही। वह अपना गुज़ारा कैसे करती थी, कोई नहीं जानता। स्त्रियाँ किस प्रकार गृहस्थी चलाती है, यह न आज तक किसी ने जाना है, न जानेगा। हमारे वैज्ञानिक तो कहते है कि स्वयं चालित (Perpetual motion) यन्त्र असम्भाव्य है।

सुखदा का पति देहली मे काम करता था। वह नित्य सवेरे ही झोंपड़े से चल पड़ता, और कुछ एक खेत पार करके मेरठ से देहली जानेवाली सड़क को जमुना के पुल के पास ही पा लेता। उन दिनों सुखदा दूर से जमुना-पुल की ओर देखकर, उसपर रेंगते हुए चीटी-से आकारों को देखती हुई अपने पति को चीन्हने का प्रयत्न किया करती। और, इसी प्रकार जब

उसके लौट कर आने का समय होता, तब भी वह पुल पर उसे खोजा करती।

इसका कारण था। पति की अनुपस्थिति में उसे कोई कष्ट या क्लेश होता हो, या वियोग की पीड़ा उसके लिये असह्य हो, यह बात नहीं थी। वर्ष भर पति के साथ रहकर भी उसने इतनी घनिष्टता नहीं उत्पन्न की थी, जितनी कालेज के लड़के-लड़कियाँ सप्ताह भर मे कर लेते है...उसका और उसके पति का जीवन मानों दो अलग और समानान्तर दिशाओं में बह रहा था, और वे निकट नहीं आ पाते थे। इसी लिये, वह अपने पति के पतित्व का अनुभव एक खास दूरी पर करती थी—जब वह उससे निकट आता, तब वह सुखदा के लिए बिल्कुल अजनबी हो जाता। जब वह घरमे होता, तब सुखदा के हृदय में उसके प्रति एक उद्वेग, एक प्रकार की झुँझलाहट के अतिरिक्त कोई भावना नहीं होती थी। जब वह दूर पुल पर होता, तब सुखदा अपने हृदय को यह समझाया करती थी कि 'वह तेरा पति है'। स्वच्छन्द, शीतल निरपेक्षता से जैसे कोई बच्चे को इशारे से चिड़िया दिखाकर बताए—'यह अबाबील है।'

उसे स्वयं कभी-कभी इससे अत्यन्त कष्ट होता था। पातिव्रत्य के जो संस्कार उसे मिले थे, वे उसे कभी-कभी अत्यन्त दुखी कर डालते थे। वह इस निरपेक्षता को दूर करने की चेष्टा भी करती थी; किन्तु इसमे मुख्य अड़चन होता था स्वयं उसका पति। उसमें भी ऐसा ही एक उपेक्षा थी—मानो किसी दिन उसे बैठे-बैठे

विचार आया हो, 'मेरे घरमें वहू नहीं है', और इस न्यूनता को पूरा करने के लिए उसने एक वहू झोंपड़े में ला रखी हो !

इसी प्रकार सुखदा के दाम्पत्य जीवन के चार वर्ष वीते। (ऐसे भी हैं, जिनका सारा जीवन यों ही वीतता है !) उस समय तक एक विराट् दुःखान्त नाटक के लिए पूरा उपक्रम हो चुका था। किन्तु मुख्यपात्र की अकाल-मृत्यु के कारण वह खेला नहीं जा सका। सुखदा अकेली रह गई। ट्रेजेडी के अंकुर से भरा हुआ उसका जीवन केवल एक विषाद से भरा रह गया—एक विषाद जिसकी नीरसता में एक हल्का किन्तु मधुर रस था ..

जिसके आधार पर उसने आठ वर्ष विता दिए थे। नित्य ही जव वह अपने छोटे-से स्वच्छ वागीचे में आकर वैठती, तव मानों उसे इस रस का एक घूँट मिल जाता था। जिस वृक्ष के नीचे वह नित्य वैठती थी, वह उसके पति का लगाया हुआ था। वह इसे मद्रास से लाया था। यद्यपि सुखदा के इस वृक्ष-तले वैठने का कारण यह नहीं था, तथापि वह नित्य ही इस वात का स्मरण कर लिया करती थी। क्षण भर के लिए उसे यही विश्वास हो जाता था कि वह पति की स्मृति के लिए ही वहाँ वैठी है...इस विश्वास से उसके हृदय की पुरानी अशान्ति, वह अनौचित्य की भावना, मिट जाती थी...

३

यदि दुःख की अनुपस्थिति को, अनुभूति की अचेतना को सुख कह सकते हैं, तो सुखदा सुखी थी। यदि—! किन्तु वह स्वयं

सोचा क़रती, क्या मेरे जीवन का उद्देश्य यही है ? उस वृक्ष-तले बैठकर जब वह जमुना का कम्पित वक्ष देखती, तब उसके हृदय में सदा यही प्रश्न उठता, 'क्या हमारा जीवन बालू पर के मिटाए हुए चिह्न से अधिक कुछ भी नहीं है ?' पर इस प्रश्न से उसकी शान्ति नहीं भंग होती थी, यद्यपि विषाद कुछ गहरा हो जाता था। उसके हृदय से मानों अशान्ति की क्षमता नष्ट हो गई थी— समुद्र मानों तूफ़ान लाना भूल गया था .

वह जो नित्य नियमपूर्वक प्रार्थना किया करती थी, वह किसी आन्तरिक अशान्ति की प्रेरणा से नहीं, वह केवल एक नियम भर था—या उससे कुछ ही अधिक। कभी वह इस विषय पर सोचती थी, तो एक ही बात का निश्चय कर पाती थी—उसे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास था—बस। जब वह अपनी आत्मा से पूछती कि वह प्रार्थना क्यो करती है, तो यही उत्तर मिलता था कि सबसे सरल पथ यही है—कुछ लाभ हो या न हो, उससे क्या.. किन्तु फिर भी, अपने वैधव्य के आठ वर्षों में एक दिन भी उसका नियम भंग नही हुआ था—और वह कल्पना भी नही कर सकती कि इस नियम का भंग कर दे...

आज जब वर्षा होने लगी और वह चौंककर उठी, तब उसे याद आया कि वह अपनी प्रार्थना भी भूल गई है, और वह दौड़ी हुई इस त्रुटि को पूरा करने गई।

झोंपड़े मे प्रवेश करके उसने एक दीपक जलाया, और उसे झोपड़े के एक कोने में ले गई। उसे एक छोटे-से आले में रख

कर वह घुटने टेककर बैठ गई, उसकी आँखें बन्द हो गईं ...और कुछ ही क्षण में वह इस संसार से परे कहीं पहुँच गई..

एक अभूतपूर्व घटना घटी। किसी ने किवाड़ खटखटाए। सुखदा का ध्यान भंग हो गया, उसने चौंककर कहा, " कौन ? "

कोई उत्तर नहीं आया, पर किवाड़ पहले से भी ज़ोर से खटकाए जाने लगे।

सुखदा क्षण भर सोचती रही, खोलूँ या न खोलूँ ? इस असमय में कौन आया है ? एकाएक हिन्दू समाज के कानूनों का एक पुलिन्दा ही उसकी आँखों के आगे से हो गया—समय, परिस्थिति, एकान्त, विधवा, और सबसे बड़ी चीज़, हिन्दू धर्म की नाक, लज्जा...

उसके प्रश्न का बुद्धि ने कोई उत्तर नहीं दिया। किन्तु किसी अज्ञात प्रेरणा से उसने उठकर किवाड़ खोल दिया, और गम्भीर स्वर में पूछा, "कौन है ?"

एक युवक ने, तनिक आगे बढ़कर, धीमे स्वर मे कहा, " मै हूँ, बहिनजी ! आपको नमस्कार करता हूँ।"

सुखदा विस्मय मे कुछ बोली नहीं। स्थिर भाव से उसके मुख की ओर देखती रही। मुख की ओर देखते ही देखते उसने बहुत-सी बातें देख लीं।

युवक के शरीर पर कपड़े अधिक नहीं थे ; एक धोती, जो घुटनों तक बँधी हुई थी, गले मे एक फटी कमीज़। हाथ में एक छोटी-सी पोटली-सी थी। सुखदा ने यह भी देखा कि युवक के

शरीर पर के कपड़े वर्षा के नहीं, किसी अधिक गँदले पानी से भींगे हुए थे और हाथ की पोटली प्रायः सूखी थी . वस्त्रों से वह बिल्कुल साधारण गँवार मालूम होता था, किन्तु उसका मुख मानों किसी आवरण के भीतर से भी कह रहा था, मैं पढ़ा-लिखा हूँ, सभ्य हूँ, संस्कृत हूँ ..

सुखदा को चुप देखकर युवक फिर बोला, "बहिनजी, मुझे यहाँ रात भरके लिए आश्रय मिल सकता है ?"

सुखदा सहसा उत्तर नहीं दे सकी। फिर उसने अत्यन्त गम्भीर स्वर में कहा, "आप कौन है, मैं जानती भी नहीं।"

"मैं एक बिल्कुल साधारण व्यक्ति हूँ। कष्ट में होने के कारण रात भर के लिए आश्रय माँगता हूँ—इससे अधिक आप क्या जानना चाहती है ?"

"आप स्वयं समझ सकते हैं," फिर कुछ हिचकिचा कर, "मैं विधवा हूँ, और यहाँ अकेली रहती हूँ।"

युवक ने सहानुभूति के स्वर में कहा, "अच्छा ?" और चुप रह गया।

"आप और कही नही जा सकते ?"

युवक एक अत्यन्त सरल-सी हँसी हँसकर बोला, "नहीं।"

सुखदा को वह हँसी अच्छी नही लगी। वह उसे समझ नहीं सकी। उसने सन्देह के स्वर में पूछा, "क्यो ? आप आए कहाँ से है ?"

"जमुना पार से आया हूँ।"

"देहली से ?"

"जी हाँ।"

"तो यहाँ कैसे आए ? सड़क तो इधर नहीं आती। पुल के पास ही कहीं क्यों नहीं ठहरे ?"

"मैं पुल पर से नहीं आया।"

"तो ?"

"यहीं सामने—तैर कर आया हूँ।"

"हैं ? जमना तैर कर ? आज—अभी ?"

युवक फिर हँसकर चुप रह गया।

थोड़ी देर बाद सुखदा बोली, "आपने अपना जो परिचय दिया है, उससे मेरा सन्देह बढ़ना ही चाहिए।"

युवक का चेहरा उतर गया। वह बोला, "ठीक है।"

थोड़ी देर फिर दोनों चुपचाप एक दूसरे को देखते रहे। दोनों मानो एक दूसरे का माप ले रहे थे। फिर युवक ने मानों अन्दर ही अन्दर किसी निश्चय पर पहुँचकर कहा, "आप मुझे थोड़ी देर के लिए अन्दर आने दें, तो आप को सन्तोष हो जायगा।"

सुखदा कुछ कह भी नहीं पाई थी कि युवक भीतर चला आया। तब सुखदा भी धीरे-धीरे झोपड़े के मध्य की ओर चली। एक ओर एक छोटी-सी चौकी पड़ी थी, उसीकी ओर इशारा करके युवक से बोली, "बैठ जाइए।"

युवक क्षण भर खड़ा ही रहा, फिर बैठ गया। सुखदा उससे कुछ दूर पर खड़ी रही।

'आप क्या जानना चाहती हैं, जिससे आपको सन्तोष हो जाय ?'

सुखदा ने विना किसी कौतूहल के कहा, "आप स्वयं ही कुछ बताना चाहते है, मैने तो कुछ नही पूछा।"

युवक ने एक तीव्र दृष्टि से उसकी ओर देखा, और बोला, "अच्छा, ऐसे ही सही। तो सुनिए। मैं दो-तीन साल से इसी प्रकार मारा-मारा फिरता हूँ। आम तौर पर तो अपना कुछ न कुछ प्रबन्ध रहता ही है, और काम चल जाता है। किन्तु कभी कभी हमारी दशा बहुत बुरी हो जाती है—हमारे लिए इस विराट् ब्रिटिश साम्राज्य मे कही पैर रखने को भी स्थान नही रहता! तब हम इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं, कि कहीं कुछ समय के लिए हमे आश्रय मिल जाय, और फिर हम अपना अस्तित्त्व मिटाकर, एक नया और मिथ्या रूप धारण करके ही उस साम्राज्य में स्थान पाते है, जिसमे हमारी सचाई के लिए स्थान नही है"

सुखदा रोककर कहने को हुई, "आपकी बात मुझे तो कुछ भी समझ नही आई।" किन्तु जब यह कहने के लिए उसने मुँह खोला, तब अपना प्रश्न सुनकर उसे स्वयं आश्चर्य हुआ—"आप खाना खा चुके है ?"

युवक ने मुस्कराकर कहा, "हाँ, कल शाम को तो खाया था।"

सुखदा झोंपड़े के एक सिरे के ताक की ओर जाती-जाती बोली, "तो अब तक क्यों नहीं बताया था ? इतना तो मैं कर ही सकती हूँ !"

उसने ताक में से कुछ रोटी, साग और केले निकाले, और फिर बोली, "साग जरा गर्म कर लाऊँ।" यह कहकर, बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए हुए, वह झोंपड़े के पिछली ओर सटे हुए एक छोटे-से छप्पर के नीचे चली गई।

युवक चौकी पर घुटने समेटे हुए बैठा था। जब उसने छप्पर की ओर से फूँकने की आवाज़ सुनी, तब उसने अपनी ठोड़ी को अपने घुटनों पर टेक दिया और चुपचाप झोपड़े में पड़ी वस्तुओं को देखने लगा।

एक कोने में, एक छोटे-से लकड़ी के बक्स पर, आठ-दस किताबें पड़ी थीं। युवक के मन मे एक क्षीण कौतूहल हुआ कि उठकर देखे क्या पुस्तकें है; पर उसके शरीर पर एक सम्मोहनी थकान छाई हुई थी, वह नहीं उठा। बक्स से हटकर उसकी आँखें दियेवाले आले की ओर पहुँची। उसने देखा, आले के ऊपर, एक लकड़ी के तख्ते पर, एक छोटी-सी धातु की प्रतिमा रखी है, जिसके कुछ अंश उस अप्रत्यक्ष प्रकाश में चमक रहे है। प्रतिमा के पैर शायद फूलों से ढके हुए थे। युवक के मन में प्रश्न हुआ कि किसकी प्रतिमा है, किन्तु यह प्रश्न बिल्कुल बौद्धिक था, इसमें स्वाभाविक कुतूहल नहीं था। उसकी आँखें उस प्रतिमा से भी हट गईं। वह छत की ओर देखने लगा। छत पर किसी

चीज़ का एक छोटा-सा गोल प्रतिविम्व पड़ रहा था। युवक ने ज़रा घूमकर देखा, वह एक छोटे शीशे से प्रतिबिम्बित हो रहा दिये का प्रकाश था। उसी शीशे के पास ही एक लकड़ी की कंघी पड़ी थी, और शीशे के कुछ ऊपर, किसी गाढ़े रंग की गिलाफ में कोई वाद्य टँगा हुआ था। पास ही टँगी हुई गज़ से युवक ने अनुमान किया कि वह बेला या सारंगी होगी। उसे कुछ विस्मय हुआ। वह अब घुटनों पर सिर टेककर सोचने लगा, इस छोटे-से झोपड़े में इतनी संस्कृति !

छप्पर की ओर से साग के गर्म होने का 'छिम-छिम-छ-छ-छिम-छिम' स्वर आ रहा था। एक बहुत क्षीण प्रतीक्षा के, और अपने शरीर की थकान की बढ़ती हुई किन्तु अभी तक मधुर अनुभूति के साथ ही साथ युवक के मन में यह प्रश्न भी उठा कि-क्या वह स्त्री गाती भी होगी ..स्वर तो बड़ा मधुर है, और वेदना के सहवास ने उसे एक कम्पित purity दे दी है...

४

सुखदा जब रोटी लेकर झोंपड़े में आई, तब पहले तो वह सीधी युवक के सामने चली आई, किन्तु फिर एकाएक ठिठक गई।

युवक उसी प्रकार, घुटनो पर सिर टेके, विल्कुल निश्चल पड़ा था—उसकी साँस विल्कुल नियमित रूप से चल रही थी।

वह सो रहा था !

सुखदा थाली लिए खड़ी सोचने लगी, 'क्या करूँ ? इसे जगाऊँ या सोने दूँ ? वह सो भी रहा है या कुछ सोच ही रहा है ?' इसका निश्चय करने के लिए उसने धीमे स्वर में कहा, "मैं बड़ी देर से थाली लिए खड़ी हूँ ।"

कोई उत्तर नहीं मिला। सुखदा फिर असमञ्जस में पड़ गई। उसकी आँखे हठात् युवक के शरीर की आलोचना करने लगीं। युवक ने अपने पैरों पर अपनी पोटली रख ली थी, जिसे वह बाएँ हाथ से थामें हुए था। दाहिने हाथ से उसने बाएँ हाथ की कलाई पकड़ ली थी और इस प्रकार घिरे हुए अपने घुटनों पर सिर रखे बैठा था। उसकी तनी हुई भुजाओं की पेशियाँ उभर रही थीं, किन्तु फिर भी ऐसा जान पड़ता था, वे भूखी हैं। फटी हुई कमीज़ में से कन्धे के नीचे का कुछ अंश दीख पड़ता था। पीठ यों झुकी हुई थी, मानो एटलस का बोझ इसी के ऊपर आ पड़ा हो।

देख-भालकर सुखदा की दृष्टि फिर उसी पोटली पर जा पड़ी। इसमे क्या है ? अवश्य कोई मूल्यवान वस्तु होगी, नहीं तो वह क्यों उसे हाथ में लिए रहता—क्यों सोते समय भी न छोड़ता ? सुखदा उसे ध्यान से देखने लगी। उसे भास हुआ, उसमें एक तो काला-सा चारखाने का कोट है और उसके अन्दर कुछ लिपटा हुआ है। क्या ?

कहीं यह व्यक्ति चोर या हत्यारा तो नहीं है ?

इसे जगाकर बाहर निकाल दिया जाय ?

आश्रय दिया जाय ?

रोटी-पानी ?

धमकाने पर यदि वार कर बैठे ?

पर इतना भोला क्यों मालूम होता है ?

बाढ़ में जमुना तैर कर पार कर आया है ?

कपड़े अभी तक गीले हो है !

फिर भी सो रहा है !

पागल है ?

सुखदा ने धीरे से थाली ज़मीन पर रख दी और छप्पर की ओर लौट गई। वहाँ से एक जलती हुई अँगीठी लेकर आई और युवक के पास ही रखकर फिर खड़ी हो गई। क्षण भर वह अनिश्चय में खड़ी रही, फिर उसने युवक के कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "उठिए।"

युवक नहीं उठा।

सुखदा ने उसे धीरे से हिलाया। युवक ने सोते ही सोते कहा, "क्या है, उमा ?" और फिर चौंककर जाग पड़ा। जागते ही कुछ लज्जित स्वर मे बोला, "मै कुछ अनाप-शनाप तो नहीं बक गया ?"

सुखदा ने गम्भीर भाव से कहा, "नहीं तो, क्यो ?"

"मै सो गया था ; मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैंने सोते-सोते कुछ कहा था।"

सुखदा ने अपने स्वर को स्वाभाविक रखने की चेष्टा करते

हुए कहा, "नहीं।" फिर बोली, "खाना तय्यार है, आप खावें।" कहकर थाली उसके सामने रख दी!

युवक ने कृतज्ञतापूर्वक कहा, "मैंने आपको बहुत कष्ट दिया। पर इतना सन्तोष मुझे है कि जहाँ तक हो सकता है, मैं किसी को कष्ट न देने की चेष्टा करता हूँ।" यह कहकर वह सिर झुकाए धीरे-धीरे खाना खाने लगा।

सुखदा बोली, "आपके कपड़े सुखाने के लिए अंगीठी भी ले आई हूँ। वह पोटली मुझे दे दें, मैं उन्हें सुखा देती हूँ।"

युवक ने जल्दी से कहा, "नहीं-नहीं, उसे सुखाने का कष्ट न करें!" किन्तु उसके कहते-कहते सुखदा ने पोटली खोल ही तो डाली।

एक कोट था, उसके अन्दर लिपटी हुई एक गाँधी टोपी, और टोपी के अन्दर—एक रिवाल्वर!

सुखदा ने जल्दी से उसे भूमि पर रख दिया, और कुछ सहम कर युवक की ओर देखने लगी। युवक ने कोमल स्वर में कहा, "इसे मुझे दे दें।"

सुखदा निश्चल खड़ी रही। वह सोचने लगी, इससे अभी कह दूँ, चला जाय? यह सोचते ही सोचते उसने कहा, "आप अपने बदन पर के कपड़े भी सुखा लें।"

युवक कुछ झिझकते हुए बोला, "पर मेरे पास और पहनने को कुछ नहीं है।"

इसका उत्तर स्पष्ट था, किन्तु सुखदा सोचने लगी, जब मैं

इसे यहाँ से निकाल ही रही हूँ, तब क्यों अधिक दया दिखाऊँ? इसलिए उसने यह नहीं कहा कि मैं और कपड़े दे सकती हूँ। वह युवक के पास से हटकर दिये के पास चली गई और स्थिर दृष्टि से प्रतिमा की ओर देखने लगी। देखते-देखते वह न जाने किस विचार में लीन हो गई। उसे युवक का ध्यान ही न रहा।

युवक जब खाना खा चुका, तब उसने सुखदा की ओर देखा। किन्तु उसे इस प्रकार तल्लीन देखकर वह बोला नहीं, स्वयं उठ कर दबे पाँव छप्पर की ओर चला गया। वहाँ जाकर हाथ धो कर वह लौटा तो उसने देखा, सुखदा जहाँ खड़ी थी, वहीं घुटने टेके बैठी है, किन्तु हाथ जोड़े हुए नहीं...उसे कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। युवक फिर लौटकर छप्पर में चला गया और वहाँ से सुखदा के उठने के स्वर की प्रतीक्षा करता हुआ और बाहर होती हुई वर्षा का स्वर सुनता हुआ बैठा रहा..

५

भीतर से सुखदा ने पुकारा, "आप कहाँ हैं?"

युवक ने चौंककर कहा, "आया!" और झोंपड़े के भीतर चला गया।

उसके अन्दर आते ही सुखदा ने प्रश्न किया, "आपका नाम क्या है?"

एक क्षण, बहुत छोटे-से क्षण के बाद युवक ने उत्तर दिया, "मेरा नाम दिनेश है।" उस क्षण में उसने देख लिया कि विधवा

के स्वर में विरोध या वैमनस्य तो नहीं, किन्तु एक प्रकार का कवचवद्ध दूरत्त्व, एक स्वरक्षात्मक कठोरता अवश्य है।

रिवाल्वर की ओर इंगित करके, " यह क्या है ?'

उत्तर में एक प्रश्न भरी दृष्टि, मानों कहती हो, क्या आप नहीं जानतीं ?

"यह क्यो ?"

"आत्मरक्षा के लिए।"

"किससे ? सच क्यों नहीं कहते, हत्या के लिए ?"

"कभी नही। मै हिंसा को घोर पाप समझता हूँ।"

"आप पुलिस से बचते फिरते हैं—मफरूर है ?"

"यही समझ लीजिए।"

"तो आप मेरे पास क्यों आए ?"

"शरण मॉगने।"

"मेरे पास क्यों ?"

" मैने नदी पार की, तो यही स्थान पहले दीखा। और मुझे राह नहीं मालूम थी।"

"आपने नदी क्यों पार की—पुल से क्यों नहीं आए ?"

"पुलिस ने मेरा पीछा किया था—मै और किसी प्रकार बच नहीं सकता था। इसलिए कोट उतारकर जमुना मे कूद पड़ा।"

"तो पुलिस यहाँ भी आ सकती है ?"

"हॉ, सम्भव है। पर मैं ॲधेरे में कूदा था, उन्हे कुछ अनुमान नहीं होगा कि कहॉ कूदा—या कूदा भी था कि नहीं। और फिर,

ऐसी बाढ़ में जमुना पार कर लेना भी आसान नहीं, वे शायद समझें कि डूब गया होगा या नीचे बह गया होगा।"

"अगर आप यहाँ पकड़े जायँ, तो मुझे भी दण्ड मिल सकता है ?"

"हाँ। मुझे आश्रय देना जुर्म है। और अगर आप मुझे गिरफ़्तार करा दें, तो बहुत कुछ लाभ भी हो सकता है।"

सुखदा ने युवक की ओर तीव्र दृष्टि से देखा, किन्तु उसके मुखपर तिरस्कार का भाव न था। वह थोड़ी देर चुप रही। फिर एकाएक बोली, "आपने यह सब मुझे क्यों बताया ? अन-जाने में—"

"आपने पूछा था। मैं झूठ भी बोल सकता था, पर आपको धोखे में रखने की इच्छा नहीं हुई।"

"डरे नहीं ?"

"नहीं। विश्वासघात आसान नहीं है—विशेषतः वहाँ, जहाँ विश्वास हो।"

"तो, आपने मेरी अनुमति प्राप्त करना ज़रूरी समझा ? आप जानते है, मैं अकेली हूँ, आपको यहाँ से निकाल नहीं सकती।"

"आपका जो अभिप्राय है, उसकी मैंने कल्पना भी नहीं की।"

"“क्यों ?"

"अगर आप निकाल दें, तो मैं बाहर भी रात बिता सकता हूँ। कष्ट होगा, पर कष्ट मात्र पर्याप्त नहीं है।"

"क्या मतलब ? विशेष परिस्थिति में आप मेरी इच्छा के विरुद्ध भी यहाँ रहते ?"

"हाँ, यदि व्यक्तिगत कष्ट या अपने प्राणों के बचाव के अतिरिक्त और कारण होता तो—"

"अगर मैं लड़ती तो—क्या मार डालते ?"

युवक ने थोड़ी देर सोचकर, अधिक गम्भीर होकर कहा, "शायद्—नही।"

"शायद ! निश्चय नही है ?"

"आप स्त्री है, इसलिए शायद नही। पर परिस्थिति भी कुछ चीज़ होती है—हम कल्पना नहीं कर सकते।"

"अच्छा !" कहकर सुखदा धीरे-धीरे इधर-उधर टहलने लगी।

थोड़ी देर बाद उसने कठोर स्वर में कहा, "अपने कपड़े पहन लो।"

विस्मय से—"क्यो ?"

"मैं तुम्हे आश्रय नही दे सकती—तुम जाओ !"

एक क्षण के अंश भर के लिए युवक अप्रतिभ हो गया, किन्तु फिर बोला, "आपकी जो आज्ञा।"

वह चुपचाप कोट में रिवाल्वर लपेटने लगा।

सुखदा ने कहा, "इसे पहन क्यो नहीं लेते ?"

"वर्षा हो रही है, रिवाल्वर भीग जायगा।"

"हूँ।"

एक क्षण चुप। फिर युवक ने पूछा, " सड़क किधर मिलेगी, यह बता दें।"

" यहाँ से बाएँ हाथ चलते जाना। थोड़ी दूर जाकर एक-दो खाली खेत आएँगे, वहाँ से फिर बाएँ मुड़ जाना—बस।"

फिर थोड़ी देर निस्तब्धता। युवक की पोटली तैयार हो गई। उसे बगल में लेकर वह बोला, "अच्छा, अब आज्ञा दें। आपने जो भोजन दिया है, उसके लिए धन्यवाद। और आपने आश्रय देने से पहले जो प्रश्न पूछे, उन्हे तो अब भूल ही जावें—"

" हूँ ", से अधिक सुखदा कुछ भी नही कह सकी।

युवक चल पड़ा। वह झोंपड़े के किवाड़ पर पहुँच गया, पर सुखदा किवाड़ खोलने या बन्द करने को भी आगे नहीं बढ़ी।

युवक ने किवाड़ खोला, और बाहर होकर उसे पुनः बन्द करने के लिए मुड़ा। तब, एकाएक सुखदा ने वहीं से पूछा, "उमा कौन है ?"

युवक चौंक पड़ा। किवाड़ को थामें-थामें बोला, "कौन उमा ?"

"उमा, कोई भी उमा।"

"उमा—थी। मेरी बहिन का नाम था।" कहकर युवक ने किवाड़ बन्द कर दिया।

६

सुखदा अब तक मन्त्रमुग्ध-सी खड़ी थी, अब चौंकी। एकाएक उसके मन में दो प्रश्न हुए, 'मैंने यह क्या पूछा ?' 'मैंने उसे क्यों निकाल दिया ?'

अपने शरीर पर से उसका नियन्त्रण मानों एकाएक टूट गया—उसका रेशा-रेशा चौकन्ना होकर किसी को खोजने लगा—उसके अंग-प्रत्यंग में यह अनुभूति हुई कि बाहर गिरती हुई वर्षा की बूँदें दबे स्वर से कह रही हैं—'समय बीता जा रहा है--बीता जा रहा है...'

सुखदा कमान की तनी हुई प्रत्यञ्चा की तरह उछलकर किवाड़ पर पहुँची और उसे खोलकर, आँखें फाड़ फाड़कर बाहर के सजीव और चलायमान अन्धकार को चीरकर देखने की चेष्टा करने लगी...

कही कुछ नहीं दीख पड़ा ..सुखदा ने आवाज़ दी—"कहाँ चले गए ?" पर उत्तर नहीं मिला ..उसने फिर पुकारा, "दिनेश, चले आओ ! लौट आओ, तुम्हे आश्रय मिलेगा !"

उत्तर मे वही, वर्षा की बूँदों की अपरिवर्त्त नूतनता...

सुखदा लौट आई। झोंपड़े के मध्य मे आकर उसके अन्धे पाँव एकाएक रुक गए, और वह धम् से भूमि पर बैठ गई ..

मैंने उसे क्यों निकाल दिया ? मैंने उसे वापस क्यों बुलाया ?

मैंने उसे पहले ही क्यो भीतर आने दिया ? अब उसने आवाज़ सुनी होगी या नहीं—

अब लौटकर आ सकता है ?

सुखदा ने देखा, उसके हाथ काँप रहे थे। क्यो, यह वह स्वयं नहीं सोच सकी। वह एकाएक लज्जित हो गई, और उठकर

दिये के नीचे, प्रतिमा के आगे, घुटने टेककर बैठ गई। प्रतिमा के पास से ही उसने एक छोटा-सा फ्रेम उठाया, और क्षण भर उसमें जड़े हुए फ़ोटो को देखती रही। उसके मुख ने एक पवित्र, किन्तु नीरस मुद्रा धारण की, उसकी आँखें बन्द हो गईं, वह अस्पष्ट शब्दों में शायद प्रार्थना करने लगी ...

आकाश में से किसी की ध्वनि आई, "आपने मुझे बुलाया था ?"

सुखदा के हाथ से फ्रेम गिर पड़ा। उसने उसे जल्दी से उठा कर यथास्थान रख दिया। फिर वह धीरे-धीरे किवाड़ पर गई और उसे खोलकर एक ओर खड़ी हो गई।

दिनेश ने फिर पूछा, "आपने मुझे क्यों बुलाया है ?"

सुखदा ने धीरे से कहा, "आप रात भर यहाँ ठहर सकते हैं।"

युवक सहसा अन्दर नहीं आया। बोला, "नहीं, आप आवेश में आकर कोई ऐसा काम न करें, जिसे करने के बाद आपकी अन्तरात्मा आपको कोसे। मैं तो—"

"आप चले आइए, मैं सोच चुकी।"

युवक अन्दर चला आया। सुखदा ने किवाड़ बन्द किया, फिर एक कोने की ओर जाकर, बिस्तर बिछाते हुए बोली, "आप थके हुए होंगे, सो जाइए।"

बिस्तर बिछाकर, एक बार झोपड़े के चारों ओर दृष्टि डाल कर, वह पिछले छप्पर की ओर जाने लगी।

युवक अब तक चुपचाप खड़ा था। उसे जाती देखकर बोला, "और आप?"

"मैं भी सो जाऊँगी, छप्पर में बहुत स्थान है।"

"नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं छप्पर में चला जाता हूँ।"

"नहीं, आप अतिथि हैं; ऐसा नहीं हो सकता।"

"मैं शरणागत हूँ। आप मेरे लिए इतना कष्ट न करें।"

"आप मेरे अतिथि हैं; और आपको मेरे प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।"

युवक धीमे स्वर में, कुछ डरते-डरते बोला, "आप मुझे विवश न करें, नहीं तो मैं आपका आतिथ्य स्वीकार नहीं कर सकूंगा।"

सुखदा क्षण भर चुप रह गई। फिर उसने कहा—"जैसी आपकी इच्छा।" और दो-तीन कम्बल इत्यादि निकालकर युवक को दे दिए। युवक उन्हें लेकर छप्पर में चला गया।

सुखदा धीरे-धीरे उस झोपड़े में टहलने लगी। थोड़ी ही देर बाद उसने सुना, युवक बिलकुल निश्चिन्त और निःस्वप्न नींद की नियमित साँसें ले रहा है। तब वह छप्पर से कुछ हटकर झोपड़े के दूसरी ओर जाकर टहलने लगी। ज्यों-ज्यों रात बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों उसकी टहलने की गति अधिक तीव्र होती जा रही थी...

वर्षा कुछ देर के लिए बन्द हो गई थी, इसलिए सुखदा बहुत दबे पाँव चल रही थी, ताकि दिनेश की नींद न भंग होने पावे...

७

उसके भीतर एकाएक ही कुछ जाग उठा – या कुछ टूट गया।
जिस प्रकार उन्मत्त व्यक्ति के ऊपर ठण्डा पानी पड़ने से उसका
खुमार एकाएक टूट जाता है—या उसकी साधारण चेतना जाग
उठती है। उसे मालूम हुआ, अब तक वह जो कुछ कर रही थी,
एक नशे मे कर रही थी .. वाह्य वस्तुओं की अनुभूति उसे
होती थी पर नहीं होती थी। इन्द्रियाँ अपना काम करती थी,
किन्तु मस्तिष्क उनकी भाषा को कुछ काल के लिए भूल गया
था—या समझता ही नहीं था—और दिनेश के सो जाने के कुछ
क्षण बाद ही उसने जागकर अपने सामान्य कर्म आरम्भ कर
दिए थे—अब वह एक अपूर्व चेतना से धधक उठा था ..

उसके मन में रौरव मचा हुआ था . प्रश्नों का तूफ़ान इतने
ज़ोरो से उठा हुआ था कि वह एक प्रश्न को दूसरे से अलग भी
नहीं कर पाती थी। मानों उसका समूचा मस्तिष्क विद्रोही हो
गया हो, और हज़ारों नई माँगें उपस्थित कर रहा हो—माँगें जो
एक दूसरे से मिलकर एक विराट् कोहराम हो गई थी—एक
उद्दीप्त ललकार का रूप लेकर पूछ रही थी—'तू ने क्या किया ?'

सुखदा इस रौरव से घबरा उठी। उसने दिए की बत्ती को
सरकाकर तेज़ कर दिया और फिर प्रार्थना करने बैठ गई।

'ईश्वर, मुझे शान्ति दे ! मेरे मन मे जो रौरव मचा हुआ है,
इसका शमन कर दे, ताकि मैं जान पाऊँ कि मै क्या चाहती हूँ।
मुझे सद्बुद्धि दे...

'मैंने अच्छा किया या बुरा, मैं नहीं जानती—इसमें संसार का लाभ है या हानि, मुझे नहीं मालूम ..पर मैं यह भी नहीं जानती कि मैंने अपनी आत्मा से विश्वासघात किया है या नहीं—यही मुझे बता दे! यदि मैंने किसी मोह में पड़कर, जान-बूझकर बुरा किया है, तो मुझे दण्ड दे, मुझे उससे शान्ति मिलेगी...यदि मैंने ऐसा नहीं किया, तो भी कह दे—मुझे शान्ति मिलेगी...

'ईश्वर! इस अनिश्चय को दूर कर दे—क्षण भर, एक अत्यन्त छोटे क्षण भर के लिए प्रकट होकर मेरी प्रार्थना का उत्तर दे दे!'

पर कहाँ? यदि ईश्वर प्रत्येक प्रार्थना की अत्यन्त सूक्ष्मकाल में ही पूर्ति कर डालें, तो कुछ ही दिनों में उनका अस्तित्व ही मिट जाय! उनका अस्तित्व ही इस बात पर निर्भर करता है कि आकांक्षा के समय कुछ न मिले, उपभोग के समय दारिद्रय हो, विरक्ति में लोभ हो; कि वे याचना के समय दीवालिया और समृद्धि के समय दयालु हों .....

जब उस मूर्त्तिमती प्रतीक्षा की काफी उपेक्षा करके भगवान् अपनी सर्वशक्तिमत्ता दिखा चुके, तब सुखदा चुप हो गई और कुछ सोचने लगी . किन्तु प्रार्थना में वह जिस प्रकार अपने भावों का उच्चारण कर रही थी, उसी प्रकार अब भी करती रही।

'प्रपीड़ित को क्या आश्रय न दिया जाय? पर वह तो हत्या भी कर सकता है! आत्मरक्षा क्या हत्या है? पर और भी तो संसार बसता है, उनकी भी तो आत्मरक्षा होती है। अत्याचार

का विरोध नहीं करना चाहिए ? पर अत्याचार का विरोध अत्याचार से नहीं होता।

'इसका निश्चय मै नहीं कर सकूँगी—बड़े-बड़े नहीं कर सके ..

'मैंने पहले उसे निकाल दिया था। वह मुझसे आश्रय माँगता था, पर उसे मेरे जीवन की कद्र नहीं ? कहता था, स्त्री पर हाथ नही उठाऊँगा— कहता था कि उसके भी आदर्श है...पर अगर मैं उसका विरोध करती, तो शायद मुझे मार डालता !

'मैंने क्या डरकर आश्रय दिया ? मैंने उसे निकाल दिया था, फिर बुलाया।

' क्यों ?

'उमा कैसी थी, उसके बारें में कल पूछूँगी। उसे कितना याद करता होगा ?

'कहता था, मेरी बहिन थी। अगर बहिन न हो तो ? अगर—'

इससे आगे वह नही सोच सकी ; एकाएक उठ खड़ी हुई। अगर क्या ! अगर उमा उसकी प्रेमिका रही हो ! सुखदा को यह विचार असह्य प्रतीत हुआ। वह तीव्र गति से इधर-उधर टहलने लगी...यह कभी नही हो सकता—उसकी प्रेमिका नहीं हो सकती ! नही हो सकती—वह ऐसा नहीं हो सकता !

सुखदा इस विचार को मन से हटा नही सकी, न स्वीकार ही कर सकी ! वह उन्मत्त की भाँति चलती रही, इधर से उधर, उधर से इधर, किन्तु उसके पाँव दबी चाँप से पड़ रहे थे .

उसका मुँह लाल हो आया—फिर पीला पड़ गया। वह खड़ी हो गई। प्रतिमा के पास पड़ा हुआ फ्रेम उठाकर वह उसकी ओर देखने लगी और बोली, "क्या मैं पापिनी हूँ? मैंने अपना व्रत तोड़ा है? तुम्हारे प्रति अपने कर्त्तव्य को भूल गई हूँ? नहीं तो क्यों मुझे वह विचार असह्य होता—असह्य है?

"पर अगर तुम हत्यारे होते और मैं तुमसे घृणा करती होती, तो क्या मै तुम्हें निकाल देती?"

किसी तिरस्कार भरी हँसती आवाज़ ने उसके कानों में कहा, 'तो दिनेश क्या तेरा पति है?'

फिर वही आरक्त मुद्रा, वही उन्मत्त चाल, इधर से उधर, उधर से इधर ..

उसके रक्त में विद्रोह जाग रहा था। यह कैसा अत्याचार है—कैसे बन्धन? वह क्या मेरा बन्धु नहीं? वह क्या मानव नहीं? अगर मैं विधवा हो गई हूँ, समाज ने मुझे जूठन की तरह अलग फेंक दिया है, तो मै समाज के एहसान से मुक्त हूँ! मैं अपना कर्त्तव्य जो समझूँगी, करूँगी!

और पति?

इसमें क्या अनौचित्य है? अगर उसे आश्रय देना मेरा धर्म था, तो वैधव्य उसमें क्यों बाधक हो—पति भी क्यों हो?

फिर वही तिरस्कार की हँसी—वही उन्मादक प्रश्न—'तू उस से प्रेम करती है?'

सुखदा ने चित्र वहीं रख दिया, हाथ से बत्ती दबाकर दीपक

बुझा दिया, और फिर बड़ी तीव्र गति से टहलने लगी...उसके पैरों की दबी हुई चाँप में भी एक ललकार थी—अपने को, या मानवता को, या ईश्वर को न जाने .

यही है मानवता का जीवन—यह अन्धकार में अशान्ति, उन्माद में जलन, विश्वास में अनिश्चय, सम्पन्नता में विद्रोह ; रात्रि की प्रशान्त गति में यह अपूर्त्ति और ललकार...

८

बादल फट रहे थे। रात बीत चुकी थी।

अभी उषा के प्रकाश का भास भी नहीं होता था, किन्तु मानों अन्धकार का रंग बदल गया था।

सुखदा थक गई थी। उसके उन्माद की पराकाष्ठा धीरे-धीरे ढीली पड़कर बहुत उतर आई थी।

वह झोंपड़े के किवाड़ खोलकर देहरी पर बैठ गई और बाहर देखने लगी।

दूर पर जमुना के विशाल वक्ष का कुछ अंश दीख रहा था। उसका जल पहले-सा क्षीण 'सर-सर-सर' छोड़ अब खेतों को नाँघता हुआ एक दर्पभरा 'झूल-झूल-झूल' गुर्राता हुआ चला जा रहा था...उससे कुछ इधर दो वृक्षों के आकार कुछ स्पष्ट-से नज़र आते थे, जिनकी ओर सुखदा देख रही थी। इन्हीं मे से एक वह पगोडा वृक्ष था, जिसके नीचे उसने इतनी वार अपने हृदय की परीक्षा ली थी ..

सुखदा को एकाएक ऐसा ज्ञात हुआ, उस वृक्ष के नीचे कोई खड़ा है। वह ध्यान से उसकी ओर देखने लगी, उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई अपनी आँखों पर हथेली की आड़ दिए, दूर कहीं देखने का प्रयत्न कर रहा है ..पर, देर तक देखने पर भी जब वह आकार हिला-जुला नहीं, तब सुखदा की दृष्टि उसपर से हटकर बहुत दूर पर जगमगाती हुई जमुना के पुल की लैम्पों की ओर गई...उसपर कई एक लैम्पें चलती हुई नज़र आ रही थीं—देहली से मेरठ की ओर। सुखदा ने सोचा, 'ये मोटरें होंगी,' और फिर उन्हे भूल गई। वह फिर उस वृक्ष की ओर देखने लगी—पर अब वह आकार, जिसकी ओर उसका ध्यान पहले आकृष्ट हुआ था, वहाँ नही था।

न जाने क्यो, सुखदा का ध्यान एकाएक फिर दिनेश की ओर गया। उसकी आन्तरिक अशान्ति, जो कुछ क्षीण हो पड़ी थी, फिर धधक उठी—वही प्रश्न फिर उसके मन में नाचने लगा—'मैंने क्या किया ..मुझे क्या हो गया . '

वह उठकर अन्दर गई। दबे पाँव छप्पर के पास जाकर उसने देखा, वहाँ खाली कम्बल पड़े थे—दिनेश नहीं था!

उसका हृदय धक् से होकर रह गया। उसे ऐसा जान पड़ा, उसके मस्तिष्क पर फ़ालिज़ पड़ गया है...उसकी आन्तरिक अशान्ति भी मानों स्तिमित होगई ..

पता नहीं कैसे, वह छप्पर से कुछ दूर तक चलकर आई, और खूँटी से सारँगी और गज़ लेकर फिर पूर्ववत् देहरी पर

आ बैठी। उसका शरीर क्या कर रहा है, यह वह स्वयं नहीं जानती थी...

उसकी उँगलियाँ गज़ को इधर-उधर चलाने लगीं, तारों से दो-चार टूटे से, अनमिल स्वर निकलने लगे...धीरे-धीरे उनका प्रकार बदलता गया—और थोड़ी देर बाद वे एक प्रकार के संगीत मे परिणत हो गए—एक संगीत जिसमें उत्कण्ठा और रोना मिले हुए थे, जिसमें एक विराट् भव्यता के साथ ही एक भयंकर निरर्थकता फूटी पड़ती थी . वैसे ही जैसे किसी सम्पूर्ण जीवनी में सब कुछ रहने दिया गया हो, केवल एक उद्देश्य निकाल दिया गया हो...

थोड़ी देर बाद नदी मे कहीं एक 'छड़ाप्!' शब्द हुआ, किन्तु सुखदा ने उसे सुनकर भी नहीं सुना। इस शब्द का कुछ अर्थ हो सकता है, यह विचार उसके स्तिमित मन पर नहीं उदित हुआ। वह उस समय अपने ही संगीत की निरर्थकता में बही जा रही थी ..

उसका मन जागा तब, जब उसने सामने-से बहुत-से बूटों की चॉप सुनी, और आँख उठाकर देखा कि कई एक सशस्त्र पुलिस के सिपाही और अफ़सर उसकी ओर बढ़े चले आ रहे है।

एक हाथ मे सारंगी और दूसरे में गज़ लिए वह धीरे-धीरे उठकर खड़ी हो गई।

एक सिपाही ने उसके मुख पर टार्च का तीक्ष्ण प्रकाश डालते हुए कड़ककर पूछा, "कौन है तू? क्या नाम है?"

सुखदा ने शान्त भाव से कहा, "मेरा नाम सुखदा है।"

"तेरे घर में और कौन है?"

"मैं अकेली हूँ।"

सिपाही घर में घुस आए, सुखदा किवाड़ के एक तरफ खड़ी रही। सिपाहियों ने क्षण भर में झोंपड़े को देख डाला, और छप्पर में घुसे। घुसते ही एक ने पूछा, "यहाँ कौन सोया था?"

"मैं सोती हूँ।"

"और उसमें कौन सोता है, तेरा खसम?" सिपाही ने झोंपड़े वाले बिस्तर की ओर इंगित करके पूछा।

"वहाँ कोई नहीं सोता है, मैं विधवा हूँ।"

उसके इस शान्त उत्तर को सुनकर यदि सिपाही कुछ लज्जित हुआ, तो उसने इसे प्रकट नहीं होने दिया।

इसी समय दो अंग्रेज़ अफ़सर भी भीतर आ पहुँचे। सिपाही दोनों ओर हटकर खड़े हो गए। अफसर ने पूछा, "तलाशी ली?"

"जी हाँ, कुछ नहीं मिला।"

"अच्छा, तुम लोग बाहर रहो, हम इससे बात करेंगे।"

सिपाही बाहर चले गए, सुखदा चित्रवत् खड़ी रही। जब सब सिपाही बाहर हो चुके, तब अफसर सुखदा के सामने खड़ा होकर बोला, "तुम जानता है, तुमको कितना सज़ा मिल सकता है?"

"मैंने क्या किया है?"

"तुमने एक मफ़रूर आदमी का मदद किया है। तुम्हारे पास

इधर रात को सूर्य्यकान्त नाम का एक डाकू और खूनी आदमी रहा है—जिसको पकड़ाने का पाँच हज़ार रुपया इनाम है।"

"आप भूलते हैं। यहाँ कोई नहीं आया। मैंने इस नाम को सुना भी नहीं।" कहते हुए सुखदा सोच रही थी, "तो उसका असली नाम सूर्य्यकान्त था।"

"हूँ। सब मालूम पड़ जायगा।"

अब दूसरा अफ़सर बोला, "देखो, हम को सब पता लग गया है। हमको जमुना में उसका लाश मिला है—वह पार जाने को था, डूब गया। तुम्हारे घर के बाहर उसके पैर का निशान भी है। तुम सच बता देगा तो छूट सकता है, नहीं तो. . . . "

सुखदा का हृदय धड़कने लगा। उसकी लाश! तो वह वापस भी तैर कर ही गया--क्यों? सुखदा को एकाएक याद आया, उसने वह 'छड़ाप्!' का शब्द सुना था.. उस समय पुल पर से मोटरें चली आ रही थीं--ऐसे समय में ..

इस पीड़ा मे, इस धड़कन मे, एक विचित्र शान्ति थी. वह रात भर की कसक, वह जलन और अशान्ति, और उनसे उत्पन्न हुए भूतकाल के दृश्य, सब एक साथ ही बुझ गए, उसे ऐसा मालूम हुआ, सैकड़ों वर्षों की थकान के बाद उसे शय्या पर लेट जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो.

उसे चुप देखकर पुलिस अफ़सरों ने समझा, उसपर कुछ प्रभाव पड़ा है। उन्होंने कहा, "हाँ, जल्दी कहो, जो कुछ कहना है। हम पूरा कोशिश करेगा कि तुम छूट जाओ।"

सुखदा ने दृढ़ स्वर मे कहा, "मुझे कुछ नहीं कहना है । मैंने सूर्य्यकान्त का कभी नाम भी नही सुना ।"

अफ़सर ने कुछ क्रुद्ध होकर कहा, " अच्छा, तुम गिरफ़ार है ।" फिर उसने आवाज़ दी, "सिपाही !"

दो सिपाही अन्दर आए । अफसर ने कहा, "इसको गिरफ़ार करके ले चलो ।"

"अच्छा, हज़ूर," कहकर सिपाही आगे बढ़े ।

सुखदा ने कहा, "मुझे तैयार होने के लिए पाँच मिनट का समय दीजिए ।"

अफसरों ने आपस में इशारा किया, फिर एक बोला, "अच्छा, हम दो मिनट दे सकता है ।"

सिपाही रुक गया ।

सुखदा ने कहा, "आप बाहर जावें ।"

अफसरो ने घूरकर उसकी ओर देखा, पर फिर बाहर जाते-जाते बोले, "दो मिनट से ज्यादा नही मिलेगा, जल्दी करो ।"

सुखदा ने किवाड़ बन्द कर लिया । छप्पर से एक लोटा पानी लेकर उसने मुँह धोया, फिर एक चादर निकालकर कन्धों पर डाल ली । एक बार धीरे-धीरे दृष्टि फिराकर उसने सारे झोपड़े को देख डाला । इन सब का अब कौन रखवाला होगा ?

वह उस आले के पास गई, जिसमे प्रतिमा रखी थी, और वहाँ से उसने अपने पति का चित्र उठाया । उसे फ्रेम में से निकालकर क्षण भर देखती रही, फिर धीरे-धीरे उसे फाड़ने

लगी ..दो, चार, आठ...सैकड़ों टुकड़े करके उसे प्रतिमा के पास ही रख दिया।

फिर उसने लकड़ी के बक्स पर पड़ी किताबों में से दो-तीन चुनकर धोती के छोर में लपेट ली।

क्षण भर वह झोपड़े के मध्य में अनिश्चित खड़ी रही।

और क्या करना है? एक बार उसने फिर चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर देख लिया—यह उसकी विदा थी।

उसकी दृष्टि चौकी पर जा कर रुकी। रात की बुझी हुई अंगीठी उसके सामने पड़ी थी।

सुखदा को याद आया, उसके पास कुल दो मिनट का समय था। वह क्षण भर अनिश्चित खड़ी रही, फिर एकाएक प्रार्थना के लिए झुक गई। अपने देवता के आगे नहीं, अपने पति के फटे हुए चित्र के आगे नहीं, किन्तु उस चौकी के आगे, जिस पर दिनेश—या सूर्य्यकान्त—बैठे-बैठे सो गया था। उसने घुटने भूमि पर टेक दिए और सिर को धीरे से चौकी पर नवा दिया...

उस अपने जीवन के अपूर्व एक मिनट में उसने किससे क्या प्रार्थना की, कौन जाने...किन्तु जब वह उठी, तब मानों उसके प्राणों का तूफान बैठ गया था.. उसकी आत्मा के सभी संस्कार, अच्छे या बुरे, नए या पुराने, एक पुरानी केंचुल की तरह झड़ गए थे, वह निरावरण हो गई थी...सुखदा के मुख पर एक शान्ति थी--उस शान्ति में वैराग्य की, त्याग की

भावना स्पष्ट थी; किन्तु वह त्याग वैधव्य की भाँति मलिन या उद्विग्न नहीं था...

१०

किन्तु जब वह किवाड़ खोलकर वापस आई, तब एकाएक उसके हृदय पर मानों कोई दैवी प्रकाश छा गया ..उसे किसी दिव्यज्ञान की एक प्रखर रेखा ने कहा, 'ये झूठे हैं!'

सूर्य्यकान्त मरा नहीं, वह मर सकता ही नहीं था ..यह विचार भी असम्भव था—असम्भावना से भी अधिक असम्भव...

वह ज्ञान-रेखा कह रही थी, 'ये झूठे है! वह नहीं मरा! तुम्हारे कर्म की सफ़ाई के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसकी मृत्यु हो गई हो!'

सुखदा इस ज्ञान के प्रकाश के आगे यह सोच ही नहीं सकी कि उसे कैसे पुलिस के कथनपर विश्वास हो गया—चाहे क्षण भर के लिए ही . जब उसे याद आया कि यह समाचार सुनकर ही उसकी आत्मा को पीड़ा के साथ-साथ शान्ति का अनुभव हुआ था, तब उसका हृदय लज्जा से भर गया ..

वह धीरे-धीरे झोंपड़े के सामनेवाले पगोडा वृक्ष की ओर अग्रसर हो रही थी। पुलिस वाले उसे बाहर आया देखकर इकट्ठे हो रहे थे। वह उनकी उपेक्षा करती हुई, वृक्ष की ओर देखती हुई चल रही थी।

वह रुकी। एकाएक उसका हृदय एक अगम्य सुख से, एक ज्वलन्त उल्लास से, भर आया।

यही जीवन का चरम उद्देश्य है—सृष्टि का चरम साफल्य, अनुभूति का अन्तिम विकास—सुख की अन्तिम पराकाष्ठा .. पीड़ा का, उत्कट पीड़ा का ज्ञान--ऐसी पीड़ा का, जो कि स्वयं अपनी इच्छा से, अपने हाथों, स्वागत की भावना से, अपने ऊपर ली गई है...यह आत्म-निछावर की चेतना .

सुखदा को ऐसा प्रतीत हुआ, उसका वर्षों का वैधव्य, और उससे पूर्व की जीवित मृत्यु, आज एकाएक अपनी सीमा पर पहुँच गए है--समाप्त हो गए हैं ; और आज वह एक नई स्त्री, एक नई शक्ति हो गई है...

उसने एक बार अपने छोटे-से बागीचे के चारो ओर दृष्टि दौड़ाई। वह जमुना के विशाल वक्ष को छूती हुई फिर उसी पगोड़ा वृक्ष पर आकर रुक गई। क्षण भर सुखदा स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखती रही, उसके मुख पर एक शान्त स्निग्ध हँसी छा गई ..

फिर उसने कहा, "चलो।" और विस्मृत सिपाहियो के आगे अभिमान भरी मुद्रा से चल पड़ी।

रात-रात में पगोड़ा वृक्ष ने पुरानी केंचुल उतार फेंकी थी--या नए वस्त्र धारण कर लिए थे। आज उसकी कालिमा का चिह्न भी कहीं नज़र नही आता था, वह फूलो से भरा हुआ, सौन्दर्य से आवृत, सौरभ से झूम रहा था।

उस समय ऊषा का प्रकाश नभ में फूट रहा था।

हरसिंगार

लाहौर,
दिसम्बर, १९३४

गोविन्द ने जल्दी से वह वही खोली, और उसके पन्ने उलटने लगा। पर दो-ही-तीन पन्ने उलटकर उसने देखा, एक पन्ने से कुछ चिपका हुआ है, जिसे उसने यत्न से उतारा, और हाथ पर फैलाकर ध्यान से देखने लगा।

बहुत-से फूल एक-दूसरे में पिरोकर एक लड़ी-सी बनाई गई थी, और उसके अन्तिम फूल जोड़कर उसकी माला पूरी कर दी गई थी। यही न जाने कब की उस पुरानी बही में दबी हुई थी, और सूखकर पीली-सी और भुरभुरी हो गई थी ; किन्तु आज भी प्रत्येक फूल अलग-अलग दीख रहा था।

गोविन्द हड़बड़ाया हुआ-सा भीतर आया था। हड़बड़ाए हुए ही उसने वही खोली थी। पर अपने हाथ मे अतीत की इस थोड़ी-सी धूल को लेकर वह सब भूल गया ; शान्त-सा, स्तब्ध-सा होकर आलमारी के पास पड़े हुए स्टूलपर बैठ गया और एक हाथ मे बही, दूसरे में वह माला लेकर कभी एक की, कभी दूसरे की ओर देखने लगा।

उसकी आँखें न जाने क्यों बही में दर्ज हुई एक संख्या पर अटक गईं। उसने पढ़ा, 'गुप्तदान—३)' और इसके साथ ही उसकी स्मृति ने एक वाक्य जोड़ा, 'नही, नामकी क्या जरूरत है ?'

कहाँ सुने थे उसने ये शब्द ? कभी कहीं अवश्य, नहीं तो क्यो वे बाढ़ की तरह एकाएक उसके मनमे आए ?

शायद बहुत बार सुने है—पर नहीं, उस खास लहजे में, उस विशेष झिझक-भरे-से काँपते स्वर मे एक ही बार.. एक ही बार...

और मनमें धीरे-धीरे ये शब्द 'एक ही बार...एक ही बार.. ' दुहराता हुआ गोविन्द उस सूखी माला की ओर देखने लगा।

फूल। सूखे फूल । माला में गुँथे हुए। 'नहीं, नामकी क्या जरूरत है?' 'गुप्तदान—३)' । फूलो की माला। हर सिंगार के फूल ।

हरसिंगार...

गोविन्द के हाथ से वही छूटकर गिर पड़ी। माला भी गिर जाती—अगर वह इतनी हल्की न होती, और अगर पसीने से गोविन्द के हाथ से चिपकी हुई न होती। गोविन्द मानों उन्हें और अपने-आपको भूल गया; शून्य दृष्टि से सामने की सूनी मैली दीवार को देखता हुआ, स्वयं एक सजीव-स्मृति बना हुआ, कुछ देखने लगा।

   

बीस वर्ष पूर्व...

गुमटी बाजार की गन्दी गलियों में से होती हुई वह मण्डली धीरे-धीरे बाहर निकल आई थी, और अब लाहौर शहर की दीवार के बाहर की वस्ती में होती हुई चली जा रही थी। जिस गली मे से होकर वे जा रहे थे, उसमे साधारण मध्यम श्रेणी के लोग रहते थे—जिनके पास घर नहीं, रहाइश है; धन नहीं, गिरस्थी है; जो विद्वान् नहीं, पढ़े-लिखे हैं; संस्कृत नहीं, शरीफ हैं। जो संसार की गति मे सब से बड़े विघ्न हैं, किन्तु जो दुनिया की

हस्ती को बनाए हुए है और कायम रखते हैं। उस मण्डली के चारों व्यक्तियों को इस श्रेणी के लोगों का कुछ भी अनुभव नहीं था—वे अनाथालय में पले हुए, अनपढ़, भिखमंगे इनके बारे मे इससे अधिक क्या जानते कि इन्हीं के छोटे-मोटे दानपर उनका अनाथालय चलता था, इन्ही की दया पर उनकी रोटी का आसरा था ?---पर फिर भी, इस मुहल्ले में प्रवेश करते हुए वे चारों एक स्थान पर रुक गए और एक दूसरे की ओर देखने लगे। सब की आँखों में एक ही प्रश्न था, पर कुछ देर तक कोई भी कुछ नही बोला, सब देखते ही रहे।

हाँ, सिवाय एक के, जो अन्धा था। वह देख नहीं सकता था, फिर भी उसकी नेत्रहीन आँखें उसके तीन साथियो की ओर लगी हुई थीं, और अन्धों की छठी इन्द्रिय, सहज-बुद्धि (Intuition) से जान गई थी कि किसी सभ्यता के किले, मध्यम श्रेणी के मुहल्ले मे प्रवेश किया जानेवाला है। उसने अपने गले मे एक मैली पगड़ी से बाँधकर टॉगा हुआ हारमोनियम अपने मैले हाथों से कुछ उठाकर, शुन्य की ओर उन्मुख होकर कहा —"गोविन्दा, जरा मेरे कोट का कालर ठीक कर दे। सब सिमट आया है और चुभता है।"

उसके साथियों में से एक ने आगे बढ़कर उसका कोट थामते हुए कहा---"सूरदास बड़े बन-सँवर कर चलेंगे! ज़रा मेरा भी हाल देखो, जिसके पास कोट हई नही!" पर कहते हुए उसने सूरदास का कोट ठीक कर दिया।

गोविन्द के शरीर पर वास्तव मे कोट नहीं था। उसने अनाथालय के रङ्ग—पीले रङ्ग—की मोटे खद्दर की कमीज और ऊँची धोती पहन रखी थी, और कुछ नही। पैरो मे जूता नही था; तलुओ मे फटती हुई बवाइयाँ इतनी ऊपर तक आई हुई थी कि भूमि पर पड़े हुए पैर में भी दीख जाती थीं, और पैरो के ऊपर, एड़ी तक, एक काली पपड़ी जमी हुई थी। सिरपर भी कुछ नहीं था, लेकिन बड़े-बड़े और उलझे हुए बालो में कोई बदबूदार तेल प्रचुर मात्रा में लगाया गया था, इतना कि वह माथे, गालों और कानोपर बह आया था; और बालों को बिना कङ्घी के, हाथ से चीरकर बिठाने की कोशिश की गई थी। इसीलिए तो, माथे के दाईं ओर उलझे हुए बालो का एक बड़ा-सा गुच्छा आगे लटक रहा था और दाहिनी भौह के ऊपर के किसी पुराने घाव के दाग़ को आधा छिपा रहा था। उसकी भवें, जो पहले ही से कुछ ऐसी थीं, मानों पहले ऊपर उठने लगी हो और फिर राह भूलकर इधर-उधर हो गई हो, इस घाव के कारण और भी विचित्र मालूम पड़ती थी। पर उसका अण्डाकार चेहरा और कमान की तरह खिचे ओठ, जिनके कोने कभी-कभी काँप-से उठते थे, देखकर जान पड़ता था कि उसमें भावुकता की मात्रा ज़रूरत से अधिक है—इतनी जितनी अनाथालय में रहनेवाले लड़के की नही होनी चाहिए। और उसकी आँखें, बड़ी-बड़ी, भावपूर्ण, आतुरता और प्यास को व्यक्त करनेवाली—कुछ जानने को उत्सुक-सी, इस भावना को पुष्ट ही करती थीं। गोविन्द की बात

सुनकर तीसरे लड़के ने कहा—"कोट नहीं तो क्या हुआ, ठाट तो पूरे है !"

सूरदास हँसने लगा। बोला, "ठीक कहा, हरि !"

हरि भी अपने घुँघराले बालों में उँगलियाँ फेरता हुआ, अपने बड़े-बड़े ओठ खोलकर हँसने लगा। उसकी छोटी-सी, चपटी-सी, किन्तु नोक के पास कुछ उठी हुई नाक कुछ और ऊपर उठ गई, उसकी तीखी और चमकती हुई आँखें कुछ और चमकने लगी।

हरि ने, और चौथे लड़के ने भी, अनाथालय की वर्दी—पीली धोती और पीला कुरता—पहन रखी थी। लेकिन दोनो के पैरों मे जूता था, यद्यपि टूटा हुआ; हरि गले में एक बड़े-बड़े दानोंवाली रुद्राक्ष की माला पहने हुए था, और चौथे ने एक पुरानी, इकहरी खद्दर की टोपी से अपनी तीन तरफ से पिचकी और चौथी तरफ से फफोले की तरह उभरी हुई खोपड़ी को भूषित कर रखा था। उसकी टोपी विशेष सफेद नहीं थी, लेकिन उसकी धँसी हुई छोटी-छोटी आँखों और फाड़कर बनाये हुए मुँहवाले साँवले बेवकूफ चेहरे के ऊपर वह मानो दर्शक की आँखों में चुभती थी। इस व्यक्ति के हाथ मे एक चन्दे की वही और कुछ-एक कागज थे, जिन्हे वह लपेटकर डण्डे की तरह थामे हुए था।

क्षण-भर के मौन के बाद, सूरदास ने पूछा—"यहाँ क्या गाएँगे ?"

हरि और गोविन्द ने एक साथ ही मुस्कराकर कहा—"घोंघे से पूछो। क्यो बे घोंघा, क्या गाएँ ?"

'घोवा' अपना घोवा-सा मुँह उनकी ओर फिराकर तनिक हँस दिया, बोला नहीं।

सूरदास ने पूछा, "'प्रभो डूबतों का' की तर्ज़ याद है न?" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए, मुँह उठाकर जल्दी-जल्दी हारमोनियम की धौंकनी चलाते हुए बजाने लगा। मण्डली मुहल्ले की ओर चल पड़ी। उस तीखी समवेत आवाज से मुहल्ले की पुरानी खिड़कियों के चौखट गूँज उठे, उस आवाज से बच भागना मुश्किल जान पड़ने लगा, ऐसे हूल-हूलकर, प्राणों को घेर-घेरकर वह फैलने लगी :—

प्रभो डूबतोंका तुही है सहारा—
सिवा तेरे दूजा नहीं है हमारा!

गली के मोड़ तक, केवल उन्हींका स्वर मुहल्ले पर अखण्ड शासन कर रहा था, पर मोड़पर आते ही उस मण्डली को सुन पड़ा, आगे कहीं ढोल बज रहा है और कोई बड़ी पतली और तीखी आवाज़ में ढोल के साथ गा रहा है, "मजनूं हौके मारदा, लैला दे ओ गम दे विच्च; मजनूं हौके मारदा....."

मण्डली ने देखा, गली में नट का तमाशा हो रहा है, और लड़के-लड़कियों की भीड़ से गली बन्द हो रही है। वे भी चुप होकर देखने लगे—उन्हें मनोरञ्जन की सामग्री कभी नहीं मिली थी, लेकिन उससे क्या उनकी चाह मर गई थी? वे भी लड़के थे, क्या हुआ अनाथ थे तो! अभी, क्षण-भर तक, वे

स्वयं नाथ है, क्षण-भर बाद, जब अनाथ हो जायँगे, तब पुकारेंगे कृष्ण को और माँगेंगे भीख—दुहाई देंगे हिन्दू धर्म की...

नट एक खेल दिखाने के बाद दूसरे की तैयारी करने लगा, और उसके साथ का वह अनवरत तीखा गान भी थोड़ी देर के लिए रुक गया, तब अनाथ-मण्डली ने एकाएक फेफड़ों की पूरी शक्ति लगाकर गाना शुरू किया :—

तुझे न सुनाऊँ तो किसको सुनाऊँ ?
सुना डूबतो का तुही है सहारा!

जब प्रतिद्वन्द्वियों की इस मण्डली को देखकर नट ने और उसके साथ के लड़के ने मिलकर ऊँचे स्वर से आलाप आरम्भ किया, तब इन्हें भी जोश आया, इनका स्वर भी अधिक तीखा हुआ, और सूरदास तो हारमोनियम पर इस प्रकार पटक-पटक कर हाथ चलाने लगा कि उसका 'खट्-खट्' स्वर मानो तबले का काम करने लगा...

तभी, एक घर में से एक लड़का बाहर निकला और गोविन्द के पास आकर कहने लगा, "भाई, तुम ऊपर आकर गाना सुनाओ।" गोविन्द उस प्रतियोगिता में इतना तन्मय था कि जब लड़के ने अपनी बात दुहराई और सूरदास ने डपटकर कहा, "सुनता नही है ?" तभी उसने समझा कि उसे क्या कहा जा रहा है।

मण्डली उस लड़के के पीछे-पीछे ऊपर चली गई। ऊपर पहुँचते ही किसी पुरुष के भारी-से स्वर ने कहा—"यहाँ बैठ

जाइए, चटाई पर।" हरि और घोघा बैठ गये. और गोविन्द ने सूरदास को कहा, "सूरा, यह चटाई है, बैठो।" और हाथ पकड़ कर उसे बिठा दिया।

उसी भारी-से स्वरवाले व्यक्ति ने कहा—"कोई अच्छा-सा भजन सुनाओ।"

हरि ने उँगली सूरदास की पसली मे गड़ाकर इशारा किया कि वह चुना हुआ भजन हारमोनियम पर आरम्भ करे। सूरदास कुछ सोचता हुआ-सा, हारमोनियम पर उँगलियाँ फेरने लगा।

इस अरसे मे गोविन्द ने कमरे की वस्तुओं और उसमे बैठे हुए व्यक्तियो को देख लिया।

मण्डली दरवाजे के पास ही चटाई पर बैठी थी। उनके सामने की ओर, चारपाई पर एक लड़की कम्बल ओढ़े लेटी हुई थी। उसकी मुद्रा से जान पड़ता था, वह बहुत दिनों की रोगिणी है, और जिस स्थिर, अपलक, किन्तु औत्सुक्यशून्य दृष्टि से, वह मण्डली की ओर देख रही थी, उससे उसके भविष्य के बारे में आशा का भाव नही होता था। उसके पैताने एक प्रौढ़ा स्त्री—शायद उसकी माँ, बैठी थी, और सिरहाने से कुछ हटकर, आरामकुर्सी पर वही व्यक्ति, जिनके भारी-से स्वर ने उन्हें बैठने को कहा था। गोविन्द की दाईं ओर, दीवार के सहारे, दो और युवतियाँ खड़ी थीं, जो आकृति से रोगिणी की बहिनें जान पड़ती थीं।

ऊपर दीवार पर, विभिन्न मुद्राओ मे कृष्ण के तीन-चार चित्र

टँगे थे, जिनमे से एक पर मुलम्मे के सितारे चमक रहे थे। खिड़की के ऊपर, सूत का एक बड़ा-सा लच्छा टँगा हुआ था, और उसके सामने एक अधमैला गीला तावल। खिड़की के चौखटे में एक कङ्घी, शीशा, साबुन, मञ्जन की डिबिया, एक पत्थर का गिलास और दवाई की दो-एक शीशियाँ पड़ी थीं।

एक बार यह सारा दृश्य देखकर गोविन्द की दृष्टि दुबारा रोगिणी के कम्बल से उठती हुई धीरे-धीरे उसके मुख की ओर जा रही थी। धीरे-धीरे, कुछ डरते-डरते, सशङ्क कि कोई देख न ले. वह ठोड़ी तक पहुँची थी कि सूरदास ने एकाएक गाना आरम्भ कर दिया, उसका ध्यान लौटकर भजन की ओर गया, और वह भी एक गहरी साँस भरकर गाने लगा :—

अपना पता बता दे ओ बेनिशान वाले।
तू किस जगह निहाँ है...

पर गाते-गाते उसे अवसर मिला इधर-उधर देखने का, तो वह न जाने क्यों अपने ही साथियो की ओर देखने लगा। और देखने लगा एक नई दृष्टि से, जिसमे एक नई और गहरी आलोचना थी, और था एक अपरिचय का-सा भाव

गोविन्द ने देखा, हरि बीच-बीच मे आँख चुराकर दीवार के पास खड़ी दोनो युवतियों की ओर देख लेता था, और तब तक देखता रहता था जब तक कि, इस आशङ्का से कि वे उसकी ओर देख न लें, उसे अपनी दृष्टि हटानी न पड़ जाती थी। और घोघा बिलकुल अपलक दृष्टि से उनकी ओर देख रहा था, उसकी

आँखो मे कुछ भी भाव नहीं था, वे थीं किसी समुद्री जन्तु की आँखो की तरह खुली-खुली, बर्फ-सी पथराई हुई, किन्तु चमकदार

गोविन्द की दृष्टि फिर उस रोगिणी की ओर गई। उसने अब की बार देखा, उसके सिरहाने के पास कुछ-एक फूल पड़े थे। और वह कभी-कभी आँख उठाकर उनकी ओर देख लेती थी, और फिर इस मण्डली की ओर, या शून्य की ओर देखने लग जाती थी।

तभी गाना समाप्त हो गया और गोविन्द की दृष्टि फिर सिमट गई, अपनी चटाई के कुछ आगे के फर्श तक जाकर रुक गई।

एक युवती ने कहा—"पिताजी, इनको कहिए, कोई अच्छा-सा भजन सुनाएँ। ये तो हमारे सुने हुए हैं।"

'पिता' ने मण्डली की ओर देखकर कहा—"हाँ भई, कुछ और सुनाओ।"

गोविन्द को एकाएक लगा, उसने अपने पाँच वर्ष के अनाथ जीवन मे जो कुछ सीखा, सब व्यर्थ, रद्दी, छिछोरा है—'ये तो हमारे सुने हुए है!' वह टटोलने लगा अपने जीवन को, खोजने लगा कि क्या है उसमे, जो इतना सस्ता नही हो गया है, जो कि 'सुना हुआ' नही है, जिसका आदर है, कुछ मूल्य है .

कुछ नहीं .

उसने फिर अपने साथियो की ओर देखा—क्या उनके मन

में भी कुछ ऐसा ही बीत रहा है ? घोंघे के मन में ? गोविन्द का अन्तर एक बड़ी उपहासपूर्ण हँसी से भर उठा—जिसके बाद आई एक आत्मग्लानिकी लहर—इसी व्यक्ति के साथ मैं इतने वर्षों तक रहता आया हूँ, सख्यका वर्ताव रखता आया हूँ—इस मिट्टी के लोंदे के साथ ! हरि के मन में ? शायद . पर उसके मन में शायद और ही कोई भाव है—वह क्यों ऐसे उन युवतियों की ओर देख रहा है ? गोविन्द को याद आया, अनाथालय मे पढ़ते-पढ़ते, लड़के—जिनमें वह भी था, वह भी !—अपनी स्लेटो पर स्त्रियो के शरीर के कल्पनात्मक चित्र (देखे कब थे उन्होंने स्त्रियों के शरीर ?) बना-बनाकर, उनपर भद्दे-भद्दे वाक्य लिखकर, मास्टर की आँख बचा-बचाकर एक-दूसरे को दिया करते थे हरि की दृष्टि को देखते हुए, गोविन्द को ये सब वाक्य याद आ गए, और वह रोगिणी की ओर देखता हुआ सोचने लगा कि कैसे वह इसमे भाग ले सकता था, कैसे वह इन सब पशुओं में एक होकर रह सकता था

देर होती जा रही थी, और गाना आरम्भ नहीं हुआ था। तीनों व्यक्ति अब सूरदास की ओर देखने लगे थे। गोविन्द सोचने लगा, ' इस समय मैं ही भजन बना सकता, तो क्या ऐसा भजन नही बना सकता, जो नया होता, अभूतपूर्व ? जो "सुना हुआ ' की श्रेणी में न आ पाता, आज नही, कल नहीं, कभी नहीं, इतना अभूतपूर्व होता वह .

आखिर सूरदास ने गाना आरम्भ किया :—

कोई तुझ-सा ग़रीब-नवाज़ नहीं,
तेरे दर के सिवा कोई दर न मिला।

पर गोविन्द को लगा, यह गाना, जो उसने अनाथालय के बाहर कभी नहीं गाया था, वहीं अभ्यास के लिए गाया था, यह गाना भी पुराना है, सड़ा हुआ है, क्योंकि पराया है, उसका बनाया नहीं है, उसके हृदय का अभिन्न निचोड़ नहीं है...वह गा नहीं सका। उसने बोंघे के हाथ से काग़ज वग़ैरह ले लिए, और जेब से एक घिसा हुआ पेन्सिल का टुकड़ा निकालकर चंदे की कापी के अङ्क जोड़ने लगा ..

पर उसमें मन कैसे लगता? उसके मन में आई एक अशान्ति, जो हटाए नहीं हटी। उसे लगा, उसके जीवन में अब तक कुछ नहीं हुआ। जो कुछ है, उसके जीवन के बाहर ही है, बाहर ही रहेगा। वह सोचने लगा, वह माँ के मरने पर अनाथ नहीं हुआ, बाप के मरने पर नहीं, समाज से निकलकर नहीं, पर अनाथालय में आकर अनाथ हो गया, क्योंकि वहाँ आकर स्वयं उसकी आत्मा मर गई उसे अकेला छोड़कर ..अब वह क्या है? बहुत-सी निरर्थक मशीनों को चलता रखने के साधन बटोरनेवाली एक बड़ी मशीन का एक निरर्थक पुर्ज़ा . भोजन उतना पाओ कि जीते रह सको, जियो ऐसे कि भोजन पाने में समर्थ हो सको; चन्दा माँगो कि पढ़-लिख सको, पहन सको, पहनो ऐसा कि चन्दा माँगने में सहायक हो ..व्यक्ति में समाज का, समाज में व्यक्ति का, धर्म में दोनों का और धर्म का दोनों में

विश्वास बनाये रखने के लिए, कीड़े बनकर आओ और कीड़े बनकर रहो ..

गोविन्द का विचार फिर रुक गया, सामने पड़ी रोगिणी की ओर देखकर। क्या ये भी उन्हीं में से है, जो हमे कीड़ा बनाए रखने के उत्तरदायी है ?

ये शायद हमे कुछ चन्दा देगे। और, औरों की तरह अपने से और संसार से सन्तुष्ट होकर और रुपया बटोरने लग जायँगे। औरो में और इनमें क्या भेद है ? कुछ नहीं। कुछ नही...

पर उसकी आत्मा नहीं मानी, नही मानी। विद्रोह करके कहने लगी, यही तो तुम्हे कीड़े से कुछ अधिक बनाने के साधन है ..

गाना समाप्त हो गया। तभी, रोगिणी के पैताने बैठी हुई स्त्री ने उठकर रोगिणी के सिरहाने के नीचे से दो रुपये निकाले, और बोली—"बेटी, इन्हे छू दे। इनको देने है।"

बेटी ने कम्बल के भीतर से एक क्षीण उँगली निकालकर उन्हें छू दिया।

पिता की भारी-सी आवाज़ ने कहा—"लो भई, यह हमारी ओर से—" और चुप हो गए। माँ ने हाथ बढ़ा दिया।

गोविन्द ने उठकर रुपये थामते हुए पूछा—"रसीद में क्या नाम लिखूँ ?"

कोई उत्तर नही मिला। उसने रसीद बनाकर फिर पूछा, "नाम बता दीजिए तो—"

"नही, नाम की क्या ज़रूरत है ?"

'गुमदान—३)'.. रसीद देकर क्षण-भर गोविन्द कुछ नहीं कर सका, न उसके साथी ही हिले—यद्यपि यह तो सभी जानते थे कि अब उठकर बाहर जाना ही है—सड़क पर, गलियों में, माँगते हुए ..

आगे-आगे सूरदास का हाथ थामे घोंचा, फिर हरि और फिर गोविन्द, सीढ़ी उतरने लगे। गोविन्द को लग रहा था कि वह कहीं उठकर आया है, और ऐसे ही नहीं जा सकता। कुछ अभी होना चाहिए, कोई घटना घटनी चाहिए...

गोविन्द ने सुना, रोगिणी अस्पष्ट स्वर में कुछ कह रही है, और तभी बड़ी युवती ने पुकारकर कहा—"यह भी ले जाओ।"

गोविन्द ने लौटकर देखा। वही हरसिंगार की माला उसे दी जा रही थी। उसने उसे लेते हुए युवती के मुख की ओर देखा, फिर सब की ओर, फिर रोगिणी की, और उतर गया।

तब अभी नट का साथी गा रहा था, "मजनूं हौके मारदा लैला दे ओ गम दे विच; मजनूं हौके मारदा ."

गोविन्द के मन में प्रतियोगिता का भाव नहीं उठा। उसे लगा, वह स्वर बड़ा मधुर है, वह भाव बहुत सत्य, बहुत महत्त्वपूर्ण—'मजनूं हौके मारदा लैला दे ओ गम दे विच' वह भी तो किसी कमी का द्योतक है।

वहाँ से सड़क पर। गलियों में। माँगते हुए। पर क्या माँगते हुए? पैसा? दान? दया? शिक्षा? माँगते हुए तृप्ति, माँगते हुए

अनुभूति, माँगते हुए जीवन...जो सड़क पर, गलियों में नहीं मिलता, जो मिलता है—कहाँ मिलता है ?

   

बस, इतनी ही तो। बीस साल बाद, याद करने को, इतनी-सी एक बात।

पर गोविन्द को याद आया, वह इतनी-सी बात नहीं थी। जो बात सारे अस्तित्व को, सारे संसार को बदल दे, चाहे क्षण-भर के लिए ही, वह कैसे क्षुद्र हो सकती है!

सड़क पर आकर जब गोविन्द का ध्यान अपने साथियों की ओर गया, तब वे उसकी इस अन्यमनस्कता पर आलोचना कर रहे थे। और उस अन्तिम उपहार पर, जो उसे मिला था। वे आलोचनाएँ क्या थीं, गोविन्द अपने मन के सामने नहीं आने देगा—यद्यपि इस समय भी वे भोंडी छुरी की तरह चुभती हैं उसके मन में...

गोविन्द चाहता था, उन्हें पकड़-पकड़कर पीट डाले, जो बातें वह स्वयं नित्य कहा करता था, वही कहने के लिए उन्हें घोंट-घोंट कर मार डाले। उसके भीतर एक शान्ति थी, जो इतने दिनों के निरर्थक जीवन को सफल किए दे रही थी, उसके भीतर एक अशान्ति थी, जो इतने दिनों से जमा हुआ जीवन के प्रति स्वीकृति का भाव नष्ट किये डालती थी।

वह चाहता था, एकदम इन सब के जीवन से निकल जाय, इन्हें अपने जीवन से निकाल फेंके; इन्हें, इनके अनाथालय को,

इनकी स्मृति को। इससे भी अधिक वह चाहता था कुछ, पर उसके अनाथालय के क्षुद्र जीवन ने उस 'कुछ' के लिए उपयुक्त शब्द नही दिए थे, वह स्वयं अपने विचारो को अपने सामने प्रकट करने मे असमर्थ था। तभी वह विना शब्दों के, विना वाक्यों के, विना व्याकरण के बन्धनों के, अपने-आप से कह रहा था, 'स्त्री के विना कुछ भी अच्छा नहीं है, कुछ भी मधुर नही है, कुछ भी मधुर नहीं है, कुछ भी सुन्दर नहीं है; स्त्री—जो केवल स्त्री ही नहीं, संसार की कुल सुन्दर और मधुर वस्तुओं की प्रतिनिधि है, ..

वह क्यो नहीं आई उसके जीवन मे? मनुष्य के जीवन की सारी प्रगति जिस एक दिव्य अनुभूति की ओर, जिस miracle की ओर है, वह क्यो नही हुआ उसके जीवन में? पहले वह अन्धा था, किन्तु जब उसकी आँखें खुल गईं, तब भी इतनी प्रतीक्षा करके भी उसे कुछ क्यो नहीं दीखा? क्यो धीरे-धीरे उसी अनाथालय ने उसे फिर घेर लिया, जिसे एक बार उसने असह्य घृणा से ठुकरा दिया था?

गोविन्द ने धीरे-धीरे, जैसे कष्ट से भुककर, वह बही जमीन पर से उठा ली। वह हरसिंगार के फूलो की राख यथास्थान रखो। बही को बन्द कर दिया। उठ खड़ा हुआ।

गोविन्द ने एक बार अपने चारो ओर, धूल के पर्दे में ढँके हुए कमरे की दीवारो और फर्श की ओर देखा। और सोचा कि इस अनाथालय की इस अनात्म यथार्थता ने उस miracle को नष्ट कर दिया—उसे होने नहीं दिया।

पर साथ ही उसने पूछा, क्या यह सब यथार्थ है, वास्तविक है ? यह टूटी मेज़, यह कुर्सी, यह बही ..उस फूल की राख से, उससे उत्पन्न होनेवाली छायाओ से, अधिक यथार्थ, अधिक वास्तविक, अधिक सत्य ?

गोविन्द ने आवाज़ दी, " राम ! केशो ! देवा ! तैयार हो जाओ ! "

चार-पाँच लड़के इकट्ठे हो गये। एक अन्धा भी, हारमोनियम गले में डाले। वही फटे-पुराने पीले कपड़े, वही तेल मे चुपड़े हुए बाल, वही ओछा शृङ्गार, वही···वही मण्डली, वही भीख...

गोविन्द सोचने लगा, पचीस साल से वह भीख माँग रहा है, शायद पचीस साल और माँगता रहेगा। यही सत्य है, यही यथार्थ है। बीस वर्ष पहले एक क्षण आया था, आज बीस वर्ष बाद फिर वही आया, जिसमे उसने इस अनाथ जीवन की सारी कटुता, कठोरता, विषाक्त निस्सहायता का अनुभव किया ; पर वह अनाथ ही है, अब अनाथ ही रहेगा। अनाथ जीवन की वासनाओं, पीड़ाओ, सङ्घर्षों, अँधियारी घटनाओं से अनाहत और अक्षुण्ण रहनेवाली प्रकाण्ड शून्यता को भरने के लिए कुछ भी नही होगा।

लेकिन बाहर निकलकर जब उसने लड़को से कहा, "गाओ, 'सुना दे, सुना दे, सुना दे किशना'," तब एकाएक कोई विश्वास उसके मन मे जागकर पूछने लगा, " एक ही बार स्त्री

ने उसके जीवन में पैर रखा, वहीं पद-चिह्न की तरह पड़ी है— फूलों की एक माला ; तब क्या आगे के इस विराट् अन्धकार में एक भी किरण नहीं है, इस मरुस्थल में, जिसे उसने नहीं बनाया, क्या एक भी कली न खिलेगी ; वहाँ बाहर, सड़क पर, गलियों में, क्या एक भी घर नहीं होगा, एक भी स्त्री-मुख, एक भी मधुर पुकार ; अनाथ जीवन की इस विषैली रिक्तता को भरने के लिए एक भी स्मृति, हरसिंगार का एक भी फूल ?"

हारिति

देहली जेल,
अक्तूबर, १९३१

वह सुन्दरी नहीं थी। उसके मुख पर सौन्दर्य की आभा का स्थान तेज की दीप्ति ने ले लिया था। उसकी आँखों में कोमलता न थी, वहाँ कृतनिश्चय की दृढ़ता ही झलकती थी। उसके सिर की शोभा उसपर की अलकावलियों में नहीं थी, वरन कटे हुए बालों के नीचे उस उघड़े हुए प्रशस्त ललाट में।

कहते हैं, स्त्री के जीवन में आनन्द है, स्नेह है, प्रेम है, सुख है। उसके जीवन में वे सब कहाँ थे? जब से उसने होश सँभाला, जब से उसने अपने चारों ओर चीन-से प्राचीन देश का विस्तार देखा; जब से उसने अपनी चिरमार्जित सभ्यता का तत्त्व समझा, तब से उसके जीवन में कितनी दुःखमय घटनाएँ हुई थीं! जब वह छः वर्ष की थी, तभी उसके पिता को जर्मन सेना ने तोप के मोहरे से बाँधकर उड़ा दिया था; क्योंकि वे 'बाक्सर' गुप्त समिति के सदस्य थे। उसके बाद १९०० वाले 'बाक्सर'-विप्लव में, जब उसकी आयु ११ वर्ष की भी नहीं हुई थी, जर्मन और अंगरेज़ सेना ने आकर उसके छोटे-से गाँव में आग लगा दी थी। वहाँ के स्त्री-पुरुष सब जल गए—उनमें उसकी वृद्धा विधवा माता भी थी। केवल उसे, उस अनाथिनी को, जो उस समय सीक्यांग नदी से पानी भरने गई हुई थी, न-जाने किस अज्ञात उद्देश्य की पूर्ति के लिए, किस भैरव यज्ञ में आहुतिरूप अर्पण करने के लिए, विधाता ने बचा लिया। वह गाँव की ओर आई, तो दो-

चार बचे हुए लोग रोते-चिल्लाते भागे जा रहे थे। वे उसे भी खींचकर ले गए। वह बेचारी अपनी माता के शरीर की राख भी न देख पाई। उस दिन से कैसा भीषण रहा था उसका जीवन! फूस की झोपड़ियों में रहना, या कभी-कभी सीक्यांग के किनारे, टिड्डीदल की तरह एकत्रित, अँधेरी, गन्दी, धुएँ से काली डोंगियों में पड़े रहना ..उसके अभिभावक, गरीब मछुए, दिन में अफ़ीम खाकर सो रहते। वह उस गर्मी में बन्द एक कोने में बैठकर सोचा करती, कब तक देश की यह दशा रहेगी, कब तक विदेशी सिपाही इस प्रकार पहले हमारे घर जलाएँगे और फिर हमें दंड देंगे, हमारे देश से करोड़ों रुपये ले जाएँगे...

आज वह युवती थी। अभी अविवाहिता थी, पर कुमारियों के जीवन में जो आनन्द होता है, वह उसने अपने निर्दय जीवन में कभी नहीं पाया। उन मछुओं की सदय, किन्तु निर्धन, शरण से निकलकर उसने कुली का काम किया था, और उससे संचित धन से अपना शिक्षण किया था। अब वह कैन्टन-सेना में जासूस का काम करती थी।

वह सुन्दरी नहीं थी। उसके जीवन ने सौन्दर्य के लिए कोई स्थान ही न छोड़ा था। उसकी एकमात्र शोभा—उसके केश—भी आज नहीं रहे थे। आज वह जासूस का काम करने के लिए सर्वथा प्रस्तुत थी। वह प्रायः पुरुष-वेश में ही रहती, कभी-कभी आवश्यकता होनेपर ही स्त्री-वेश पहन लिया करती। उसकी सहचरियाँ अब कभी उससे इस विषय में प्रश्न करतीं, तो वह

कहती—"जिस देश में पुरुष भी गुलाम हो, उसमें स्त्री होने से मर जाना अच्छा है।"

उसकी बात शायद सच भी थी। चीन की दशा उन दिनों बहुत बुरी थी—अशान्ति सब ओर फैली हुई थी। इधर कैन्टन में सनयात-सेन अपनी सेना का संगठन कर रहे थे। उधर से समाचार आया था कि मंचूरिया से सम्राट् का सेनापति युवान शिकाई बहुत बड़ी सेना लेकर आ रहा है। कैन्टन की औद्योगिक अशान्ति का स्थान अब एक नए प्रकार के संजीवन ने ले लिया। जिधर आँख उठती, उधर ही लोग वर्दियाँ पहने नज़र आते। कैन्टन-सेना स्वयंसेवी थी, युवान शिकाई की सेना में सब ही वेतन पाकर काम करते थे। कैन्टन-सेना के सैनिकों के आगे साम्य का आदर्श था, युवान शिकाई के आगे व्यक्तिगत लाभ का। कैन्टन-सैनिकों के हृदय में प्रजातन्त्र की चाह थी, युवान शिकाई के सैनिक साम्राज्यवाद की हिली हुई नीव फिर से जमाना चाहते थे। कैन्टन की सेना विश्वास के कारण लड़ती थी, युवान शिकाई की लोभ के कारण। पर कैन्टन के सैनिक बहुत थोड़े थे, और उनके विरुद्ध युवान शिकाई एक शस्त्रवेष्टित प्रलय-लहरी लिए बढ़ा आ रहा था। उन थोड़े से गुप्तचरों को दिन-रात अनवरत काम करना पड़ता था; कभी इधर, कभी उधर; कभी सन्देश पहुँचाना, कभी ख़बरें लाना—कभी-कभी एक-एक रात में चालीस-चालीस मील तक पैदल चलना पड़ जाता था; पर उनके सामने जो आदर्श था, उनके हृदय में जो दीप्ति थी, वह उन्हें

प्रोत्साहित करती, उन्हे शक्ति प्रदान करती, उन्हे विमुख होने से बचाती थी।

पर सब ही के हृदय मे वह आदर्श--वह दीप्ति नहीं थी। कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे, जिनके हृदय में दूसरी इच्छाओं, दूसरी आशाओ, दूसरी स्मृतियो ने घर कर रखा था। जिनका ध्यान युवान शिकाई की प्रगति की ओर नहीं, प्रणय की प्रगति की ओर था; जिनके मन मे दृढ़ विश्वास का आलोक नहीं, विरह का प्रज्ज्वलन था। पर जिस तरह कसौटी पर चढ़ने से पहले सभी धातुएँ सोने की तरह सम्मानित होती हैं, उसी तरह वे भी संघर्ष से पहले सच्चे वीरों में गिने जाते थे। जिस महान परीक्षा से पृथक्करण होना था, वह अभी आरम्भ नहीं हुई थी।

   

वह नित्यप्रति जब उठकर अपनी मर्दानी वर्दी पहनती, तो किसी अनियन्त्रित शक्ति से प्रार्थना किया करती—"शक्ति! मुझे इतनी दृढ़ता दे कि मैं उस आनेवाली परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकूँ। मै स्नेह से वंचित रही हूँ, अनाथिनी हूँ, प्रेम करने का अधिकार मुझे नहीं है—मैं दासी हूँ। कीर्ति की मुझे इच्छा नही है—गुलाम की क्या कीर्ति; पर मुझे पथ-भ्रष्ट न करना, मुझे विश्वास के अयोग्य न बना देना।"

फिर वह शान्त होकर अपने तम्बू से बाहर निकल आती, और दिन-भर दत्तचित्त होकर अपना काम करती। दिन मे उसे कभी अनिश्चय का, अविश्वास का, कातरता का अनुभव न

होता। सभी उसके प्रशस्त ललाट, उसके प्रोज्वल नेत्र, उसके तेजोमय मुख को देखकर विस्मित रह जाते।

  

घनघोर वर्षा हो रही थी। पाँच दिन से वह अविरल जल-धारा नहीं रुकी थी। वह पीतवर्णा, कृशकाया सीक्यांग आज घहर-घहर करती हुई बह रही थी। उसका पाट पहले से दुगना हो गया था, और रंग बदलकर लालिमामय हो रहा था। उसके किनारे, वहीं जहाँ दस वर्ष पहले अंगरेज़ और जर्मन सेना ने एक छोटे-से गाँव को अधिवासियों-सहित जला दिया था, आज एक बड़ा फौजी शिविर था, और कितनी ही छोटी-छोटी छोलदारियाँ इधर-उधर लग रही थीं।

वर्षा हो रही थी, पर केन्टन की सेना के उस शिविर में उसकी बिलकुल उपेक्षा थी। कितने ही सैनिक चुपचाप अपने स्थानों पर खड़े पहरा दे रहे थे। उनकी वर्दियाँ भीग गई थी। बूट कीचड़ से सन गए थे। हाथों की उँगलियों पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं; पर वे अपने स्थानों पर सावधान खड़े थे।

रात बहुत बीत चुकी थी, छोलदारियों में अँधेरा था। केवल बीचवाले एक बड़े तम्बू में प्रकाश था। उसके बाहर बहुत से पहरेदार थे। वे एक दूसरे के सामने खड़े थे। फिर भी कोई किसी से बात नहीं कर रहा था..

एकाएक भीतर से आवाज़ आई—"केनलुन!"

एक पहरेदार अन्दर गया, और क्षण-भर में बाहर आकर छोलदारियों की ओर चला गया।

थोड़ी देर में वह लौट आया। अब वह अकेला न था। उसके साथ थी एक स्त्री, जिसका शरीर एक भूरे फौजी कम्बल से ढँका था, पर सिर खुला था, उसपर केश कटे हुए थे।

दोनों अन्दर चले गए।

अन्दर एक बड़े गैस-लैम्प के प्रकाश में चार-पाँच अफ़सर बैठे हुए थे। एक कुछ चिट्ठियाँ पढ़ रहा था। एक ने दो-तीन नक्शे अपने आगे बिछा रखे थे, और उन्हें ध्यान से देख रहा था--कभी-कभी पेंसिल से उनपर चिह्न भी लगा देता था। एक और बैठा कुछ लिख रहा था। उसकी वर्दी की ओर देखने से मालूम पड़ता था कि वह कर्नल था। और बाकी सब उससे छोटे पद के थे। पहरेदार और वह स्त्री कर्नल के आगे सलाम करके खड़े हो गए। उसने कुछ देर ध्यान से स्त्री की ओर देखा, और बोला--"नम्बर ४७४ ?"

स्त्री ने शान्त-भाव से उत्तर दिया—"जी हाँ।"

"तुम कैन्टन से डायना पेइफ़ू का घर जानती हो ?"

"जी हाँ, वे नदी के किनारे ही एक लाल मकान में रहती है।"

"हाँ।"

कर्नल ने एक पत्र निकाला, और उसपर मुहर लगाकर उसे दे दिया। फिर कहा--"नम्बर ४७४, यह पत्र उन्हे पहुँचाना है।"

"कब तक ?"

"वैसे तो कोई जल्दी नहीं है, पर बाढ़ आ रही है, शायद रात-रात में रास्ता बन्द हो जाय।"

"बहुत अच्छा।"--कहकर वह जाने लगी।

जो व्यक्ति नक्शा देख रहा था, उसने कहा—"कर्नल, यहाँ से कैन्टन के रास्ते में तो युवान शिकाई की सेना पहुँच रही है।"

"हाँ, मुझे याद आ गया। नम्बर ४७४।"

"जी हाँ।"

"हाँकाऊ से समाचार लेकर तुम्हीं आई थी न ?"

"जी हाँ।"

"फिर तुम्हें पूरी स्थिति मालूम ही है। अपने साथ दस चुने हुए आदमी लेती जाओ।"

"बहुत अच्छा।"

"तुम्हारे पास वह जासूस का चिह्न है ?"

"नहीं, मैंने हाँकाऊ से आते ही उसे वापस कर दिया था। अब आप दे दें।"

कर्नल ने जेब में से चाँदी का बना हुआ एक छोटा-सा चीनी अजगर निकाला, और देते हुए बोला—"हमें तुमपर पूरा विश्वास है।"

उस स्त्री ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप विचित्र चिह्न लेकर सलाम करके चली गई। कर्नल ने लिखना बन्द कर दिया। एक हल्की-सी सन्तुष्ट हँसी उसके मुँहपर दौड़ गई।

  

"क्या बात थी, हारिति ?"

"कुछ नहीं, एक दौड़ और लगानी होगी।"

"कहाँ की ?"

"कैन्टन।"

"पर अभी कल ही तो तुम हॉकाऊ से आई थीं ?"

"तो क्या ? काम तो करना ही होता है।"

"यह ९० मील अकेली ही जाओगी ?"

"नहीं, साथ दस आदमी और जायँगे।"

"पर जो बाढ़ आ रही है—"

"उससे आगे बढ़ना होगा। अगर कैन्टन का पुल पार कर लूँगी, तो हमारी जीत है।"

"और अगर न कर पाई तो ?"

"तैरना जानती हूँ—मछुओं के यहाँ पली हुई हूँ।"

"हारिति ?"

"हाँ, क्या है ?"

"मुझे साथ ले चलोगी ?"

"क्यों ?"

"यों ही तुम्हारे साथ जाने को जी चाहता है।"

"पर फिर मेरे बाद यहाँ किसी की जरूरत हुई तो ?"

"तुम वापस नहीं आओगी ?"

"पता नहीं। कैन्टन में जो आज्ञा मिलेगी, वही माननी

होगी। फिर शायद यहाँ से तुमको भी जाना पड़े—युवान शिकाई बहुत पास आ पहुँचा है।"

'फिर तो तुम नहीं आओगी, हारिति !"

हारिति कुछ बोली नहीं। उसने चुपचाप अपनी मर्दानी वर्दी पहनी, और कोट के अन्दर वह चीनी अजगर लगा लिया। फिर बिना कुछ कहे ही वह छोलदारी से बाहर निकल गई।

   

"कानयिन ! कानयिन !"

"कौन है ?"

"मैं हूँ, हारिति।"

"इस समय क्या काम है, हारिति ?"

"काम मिला है, अभी जाना होगा। वर्दी पहनकर बाहर आओ।"

"इतनी रातको काम ? कितनी दूर जाना है ?"

"बहुत दूर। समय नहीं है, जल्दी करो।";

"लो, आया, और कौन साथ जायगा ?"

"तुम्हीं नौ आदमी चुनकर ले आओ—मैं घोड़े चुनने जाती हूँ।"

"अच्छा, मैं फाटक पर अभी पहुँचता हूँ; पर इतने आदमी क्या होंगे ?"

हारिति ने धीरे से कहा—"रास्ते में युवान शिकाई की सेना से मुठभेड़ की आशंका है।"

"अच्छा, फिर तो पूरी तैयारी करनी होगी ?"

"हाँ, पर जल्दी।"

हारिति चली गई। उसके बाद छोलदारी के अन्दर से बहुत कोमल ध्वनि आई—"हारिति, हारिति, कितनी दृढ़ हो तुम ? मैं कभी तुम्हारी बराबरी कर सकूँगा ?"

हारिति वहाँ सुनने को या उत्तर देने को नहीं खड़ी थी।

   

वर्षा अभी भी हो रही थी। सीक्यांग का नाद घोरतर होता जा रहा था। उसकी अरुणिमा बढ़ती जा रही थी ..

वे ग्यारह व्यक्ति रास ढीली किये, घोड़े दौड़ाए जा रहे थे। कोई कुछ बोलता नहीं था, पर हर एक के मन में न-जाने क्या-क्या विचार उठकर बैठ जाते थे। किसी के हृदय में भय न था, पर कितने चौकन्ने होकर वे चारों ओर देखते जाते थे !

वर्षा की और नदी की ध्वनि में उन घोड़ों के दौड़ने की ध्वनि डूब गई थी। उनकी प्रगति काल के प्रवाह की तरह रवहीन किन्तु अविराम मालूम हो रही थी। किसी महती कामना की प्रतिच्छाया की तरह शान्त, किसी बे-रोक मशीन की तरह नियन्त्रित, वे घोड़े जा रहे थे। और उनके सवार धीरे-धीरे हिसाब लगाते जाते थे कि इस गति से कब पुल पार करेंगे—करेंगे भी या नहीं .

नदी भी बढ़ी चली जा रही थी। उसके प्रवाह में दर्प था, अवमानना थी, सिंह का गर्जन था, और थी प्रकाण्ड प्रलय-

कामना। थोड़ों के उस क्षुद्र प्रयत्न को कितनी उपेक्षा से देख रही थी वह, और मानो हँसकर कह रही थी—प्रकृति के प्रवाह को ललकारोगे, जीतोगे, तुम !

   

"हारिति, कुछ सुनाई पड़ता है ?"

"नहीं। क्या है ?"

"मुझे भ्रम हुआ कि मैंने कहीं गोली चलने की आवाज़ सुनी थी।"

"सम्भव है। हमारा सब सामान तो ठीक है न ?"

"हाँ, चिन्ता की कोई बात नहीं।"

क्षण-भर शान्ति।

"कानयिन, वह देखते हो ?"

"किधर ?"

"वह दाहनी ओर। कहीं आग का प्रकाश है।"

"हाँ, हाँ—"

"वह है शत्रु का शिविर।"

"हमने गोलियाँ भर रखी हैं। कितनी दूर और जाना है ?"

"अभी बहुत है—कोई ३५ मील।"

"पुल कितनी दूर है ?"

"तीस मील।"

फिर क्षण-भर शान्ति।

"कानयिन, साथियों को सावधान कर दो। लड़ाई होगी। वे घुड़सवार हमसे भिड़ने आ रहे हैं।"

"रुककर लड़ना होगा?"

"नहीं। रुकने का समय नहीं है। हम बढ़ते जायँगे।"

"पर—"

"क्या?"

"हमारे घोड़े थक गए हैं।"

"फिर?"

"हमें रुककर लड़ना चाहिए, और उनके घोड़े छीन लेने चाहिए।"

"और अगर हमारे घोड़े भी मारे गए तो?"

"घोड़ों पर से उतर कर अलग हटकर लड़ेंगे, उन्हें बचा लेंगे।"

"वे बहुत आदमी हैं, हम थोड़े।"

"वे वेतन के लिए लड़ते हैं, जान देने के लिए नहीं।"

"अच्छा, जैसा तुम उचित समझो।"

घोड़े रुक गए। उन्हें इकट्ठा खड़ा कर दिया गया। हारिति उनके पास खड़ी हो गई। कानयिन और उसके साथी कुछ आगे हटकर खड़े हो गए।

ठाँय! ठाँय! ठाँय!

एक साथ ही दस गोलियाँ चल गईं। आक्रमणकारियों ने

अपने घोड़े रोक लिए, और अन्धकार मे देखने की चेष्टा करने लगे कि गोलियाँ कहाँ से आई थीं।

ठाँय ! ठाँय ! ठाँय !

फिर दस गोलियाँ छूटीं। अब की बार उत्तर आया।

हारिति चुपचाप देख रही थी। जब शत्रु-पक्ष की ओर से बौछार आती, तब वह कुछ चिन्तित होकर पूछती—"कानयिन, कहाँ हो तुम ?" और वह हँसकर उत्तर देता—"हारिति, हमारी जीत होगी।" फिर वह शान्त हो जाती थी।

एकाएक गोली चलनी बन्द हो गई। कानयिन बोला—"हारिति, वे भाग रहे है—हम घोड़े पकड़े लेते है !"

थोड़ी देर में आठ नए घोड़े एकत्रित हो गए। हारिति, कानयिन और पाँच अन्य व्यक्तियों ने घोड़े बदल लिए। बाकी उस लड़ाई मे खेत रहे थे

"कानयिन, अपने घोड़ों का क्या करना होगा ?"

"यहीं छोड़ दिए जायँ ?"

"शत्रुओं के लिए ? नही, उन्हे खाली साथ ले चलेंगे !"

"और जो न दौड़ सकते हो ?"

"उन्हे गोली मार देंगे।"

"हारिति !"

"क्या है ?"

"कुछ नही, चलो।"

फिर वही होड़, वही सीक्यांग के प्रवाह से प्रतियोगिता, वही निःशब्द प्रगति

   

"हारिति !"

"क्या है ?"

"वे फिर आ रहे है।"

"आने दो। अब रुकना नही होगा।"

" एक बात कहूँ ?"

" कहो।"

" तुम आगे चली जाओ, हम रुककर उनसे युद्ध करते है।"

" क्यो ?"

" अबकी बार उन्हे भगा नही सकेंगे, कुछ देर रोक ही पाएँगे।"

" फिर क्या होगा ?"

" होगा क्या ? यदि रोक सकेंगे, तो अच्छा। नही तो—"

" नही तो क्या ?"

" मै फिर तुम से आ मिलूँगा।"

क्षण-भर निस्तब्धता।

" कानयिन !"

" हारिति !"

" तुम ठीक कहते हो, मै अकेली ही जाती हूँ।"

" जाओ। शायद मैं फिर आ मिलूँ।"

"शायद—"

   

रात्रि के अन्धकार का रूप कुछ बदलने लगा था। बादल अब भी घिरे हुए थे। वर्षा अब भी हो रही थी। पर जहाँ पहले एकदम निविड़ अन्धकार था, वहाँ अब कुछ भूरा, कुछ सफेद, मिश्रित-सा अन्धकार हो गया था। और धरती पर से भाप उठ कर जमने लग गई थी। पहले की प्रगाढ़ नीलिमा में जो वस्तुएँ कुछ अस्पष्ट दीखती थीं, वे अब एकदम लुप्त हो गई थीं। अभी उषा के लालिमामय आगमन में बहुत देर थी। सीक्यांग का पुल भी अभी दस मील दूर था। हारिति थक गई थी। उसका घोड़ा भी थक गया था। और उन बिछुड़े हुए साथियों की, कानयिन की, स्मृति उसे खिन्न कर रही थी; पर उसके हृदय में जो शक्ति थी, जिसके आगे उसने इतनी बार दृढ़ता की भिक्षा माँगी थी, वह शक्ति आज उसकी सहायता कर रही थी, उसके शरीर में नई स्फूर्ति का सञ्चालन कर रही थी। उसने घोड़े की गति धीमी नहीं की थी; जिस गति से यात्रा का आरम्भ किया था, उसी से अब भी चली जा रही थी। उसके पीछे एक और सवार चला आ रहा था; पर उसे इसका ध्यान न था। वह पीछे नहीं देखती थी, न उसे पीछे से घोड़े की टाप सुन पड़ती थी। उसका ध्यान उस क्रमशः घटते हुए दस मील के अन्तर पर स्थिर थी।

वह सवार धीरे-धीरे पास आ रहा था। जब वह कुछ ही पीछे रह गया, तब उसने पुकारा—"हारिति, मैं आ गया।"

हारिति के मुखपर प्रसन्नता की रेखा दौड़ गई, पर उसने घोड़े को रोका नही। जब कानयिन बिलकुल उसके बराबर आ गया, तब उसने पूछा—"कानियन्न, बाकी साथी कहाँ रहे ?"

कानयिन ने बिना उसकी ओर देखे ही उत्तर दिया—"वे रहे ही नहीं।"

बहुत देर तक दोनो चुपचाप बढ़ते गए। फिर हारिति बोली—"और घोड़े ?"

"मर गए। मै भी दूसरा घोड़ा लेकर पहुँच पाया हूँ।"

"शत्रु कहाँ हैं ?"

"बहुत पीछे रह गए है।"

"फिर मुठभेड़ की सम्भावना है ?"

"अवश्य।"

"क्यों ?"

"उन्हे शक हो गया है कि हम पत्र-वाहक है, और हमसे कुछ पाने की आशा है।"

हारिति कुछ हँसी। "कुछ पा लेने की आशा ! कितने मूर्ख है वे !"

"क्यों ?"

"कैन्टन के सैनिक रुपये के लिए विश्वास नही बेचते !"

कुछ देर चुप रहकर कानयिन बोला—"हारिति, कैसी रहस्यमयी स्त्री हो तुम ! अगर—"

"देखो कानयिन, ऐसी बातो से मुझे दुःख होता है।"

"क्यों ?"

"हम गुलाम हैं। हमें अपने आदर्श के अतिरिक्त किसी बात का ध्यान करने का अधिकार नहीं है।"

कानयिन ने धीमे स्वर में कहा—"सच कहती हो, हारिति ! मैं बार-बार भूल जाता हूँ।" और फिर चुप हो गया।

   

"दो मील।"

"पर हम इतना जा पाएँगे, हारिति ! वह देखो, शत्रु कितना पास आ गए हैं।"

"कोई चिन्ता नहीं। हम पुल पार कर लेंगे, फिर इनका डर नहीं रहेगा।"

"पर पुल तक के दो मील..."

"गति तेज़ कर दो। अब तो इन्हे रोकने का भी प्रयत्न नहीं कर सकते।"

"मेरे पास पाँच भरे हुए पिस्तौल है, और यह बन्दूक तो है ही।"

"पाँच पिस्तौल !"

"हाँ, अपने साथियो का उठा लाया हूँ।"

"दो मुझे दे दो। शायद—"

कानियन ने जेब से निकालकर दो पिस्तौल उसे पकड़ा दिए। उसने उन्हे अपने कोट मे डाल लिया, और बोली—"अगर

निर्णय ही करना होगा, तो पुल पर करेंगे। वहाँ बना-बनाया मोर्चा मिल जायगा।"

"पर दो आदमी मोर्चे की क्या रक्षा करेंगे?"

"शायद पार निकल सकें। नहीं तो—"

"क्या?"

"इतने दिन सीक्यांग के ऊपर रही हूँ, आज उसके नीचे तो आश्रय मिल ही जायगा।"

"हारिति!"

"वह देखो क्वानयिन सामने! पुल आ गया।"

"प्रजातन्त्र की जय!"

प्राची दिशा से बादलों को चीरकर फीका पीला-सा प्रकाश निकल रहा था। उसके सामने ही सीक्यांग के प्रमत्त प्रवाह के ऊपर पुलका जँगला दीख रहा था। कितना विमुग्धकारी था वह दृश्य, और साथ ही कितना निराशापूर्ण! नदी की सतह पुल की पटरियों को छू रही थी। कभी-कभी किसी लहर का पानी पुल के ऊपर से भी छलक जाता था। और ठीक मध्य में, जहाँ नदी का प्रवाह सब से अधिक था, पुल का एक अंश टूटकर बह गया था। दोनों ओर से दो पटरियाँ आतीं, और बीच मे लगभग २०-२२ फ़ुट का खुला स्थान छोड़कर ही समाप्त हो जातीं। उस स्थान में केवल विपुल जल-प्रवाह का गर्जन और उसकी अथाह अरुणिमा ही थी।

"हारिति, वह देखो, क्या है!"

"मैने देख लिया है।"

"अब क्या करना होगा ?"

हारिति ने कुछ उत्तर नहीं दिया। रास खींचकर घोड़ा रोक लिया। क्वानयिन ने भी उसका अनुसरण किया। हारिति ने मुड़कर पीछे की ओर देखा, शत्रु अभी आध मील दूर थे। क्षण-भर वह अनिश्चित खड़ी रही ; फिर बोली "क्वानयिन, हमारी परीक्षा का समय आ गया है।"

क्वानयिन कुछ नहीं बोला। प्रतीक्षा के भाव से हारिति के मुख की ओर देखने लगा। हारिति घोड़े पर से उतर पड़ी। क्वानयिन ने भी उतरते हुए पूछा—"क्या करोगी ?"

"बताती हूँ।" कहकर वह अपने पुराने घोड़े पर सवार हो गई। "देखो क्वानयिन, तुम यहाँ खड़े होकर मोर्चा लेना, मै जा रही हूँ।"

"कहाँ ?"

"पार।"

"कैसे ?"

"कूदकर।"

"कूदकर ! यह तुमसे नहीं होगा, हारिति ! तुम्हारा घोड़ा भी तो थका हुआ है।"

"मैंने निश्चय कर लिया है। और कोई उपाय नहीं।"

क्वानयिन ने अनिच्छा से कहा—"तो नया घोड़ा ही ले जातीं।"

"उसका मुझे अभ्यास नहीं। पुराना घोड़ा ही ले जाना होगा !"

हारिति ने जल्दी से अपना कोट उतारा और पिस्तौल क्वानयिन को दे दिए। वह चाँदी का अजगर चिह्न उसने अपनी कमीज़ मे लगा लिया, और पत्र को अच्छी तरह लपेटकर कमरबन्द से रख लिया।

"हारिति, यह क्या कर रही हो ?"

"शायद कूद न पाऊँ, व्यर्थ का भार नहीं रखना चाहिए।"

"हारिति, क्या यह विदा है ?"

"हाँ। वह देखो, शत्रु आ रहे है। मुझे विदा दो।"

"तुम्हारे बाद मुझे क्या करना होगा ?"

हारिति क्षण-भर स्थिर दृष्टि से क्वानयिन की ओर देखती रही। फिर बोली—"शायद कुछ भी नहीं करना होगा। अगर—अगर बच गए, तो पार कूद आना, और क्या करोगे ?"

"जाओ, हारिति, जाओ। तुम वीर हो, मै भी अधीर न होऊँगा।"

हारिति ने झुककर घोड़े का गला थपथपाया, और बोली—"बन्धु, अब मैं फिर वही अनाथिनी रह गई हूँ। मेरी मदद करना।" उसने घोड़े को ऐंड़ लगाई, रास ढीली कर दी। घोड़ा उन गीली पटरियों पर दौड़ा। हारिति कुछ आगे झुकी।

ठाँय ! ठाँय ! ठाँय !

शत्रु पहुँच गए। क्वानयिन हारिति को कूदते हुए भी नहीं

देख पाया। उसने शत्रुओं का बन्दूक से जवाब दिया, और फिर पिस्तौल उठा ली।

क्षण-भर के लिए आक्रमणकारी रुक गये। क्वानयिन ने घूमकर देखा।

पुल की पटरियाँ दोनों ओर खाली थीं। उसने देखा, हारिति के घोड़े के अगले पैर पुल के टूटे हुए भाग के उस पार की पटरियों पर पड़े, किन्तु पिछले पैर नीचे स्तम्भ में टकराए, फिसले, और फिर घोड़े समेत हारिति उसी अथाह अरुणिमा में गिर गई।

क्वानयिन धीरे-धीरे पुल पर हटने लगा। शत्रु आगे बढ़ते आ रहे थे। उस खुले स्थान में क्वानयिन ने देखा, हारिति का घोड़ा अभी डूबा नहीं था, एक बहुत बड़े भँवर में फँसकर घूम रहा था। तैरकर निकलने की उसकी सारी चेष्टाएँ निष्फल हो रही थीं, और हारिति उसपर बैठी शायद कुछ सोच रही थी।

क्वानयिन ने चाहा, मैं भी कूद पड़ूँ, शायद उसे बचा पाऊँ। फिर उसे हारिति के शब्द याद आए—"हमारी परीक्षा का समय आ गया।" उसने मन-ही-मन कहा—"हारिति, हमारे कर्तव्य अलग-अलग हैं। तुम अपना करो, मैं अपना। मैं शत्रु को रोकता हूँ, तुम्हें कैसे बचाऊँ?" फिर वह एकाग्र होकर निशाना लगाने लगा, और युवान शिकाई के सैनिकों को उड़ाने लगा।

  

हारिति सँभलकर उठी, और घोड़े की पीठ पर खड़ी होकर बोली—"बन्धु, तुमने तो मेरी सहायता की, अब मैं तुम्हे छोड़

कर जा रही हूँ।" फिर उसने एक लम्बी साँस ली, और उछलकर पानी मे कूद पड़ी—भँवर के बाहर।

गोलियाँ अभी चल रही थीं। एक गोली कानयिन के कंधे मे लगी, एक पैर मे। उसने अब शत्रु की चिन्ता छोड़ दी। उसकी आँखें हारिति को ढूँढ़ने लगी। पुल से कुछ दूर उसने देखा, एक केशहीन सिर। हारिति तैरती जा रही थी। घोड़े का कही पता न था।

कानयिन ने कहा—"हारिति, मेरा काम पूरा हुआ।"

उसने पिस्तौल उठाई, और अपने माथे के पास रखी। फिर—

"प्रजातन्त्र की जय!"

जब शत्रु वहाँ पहुँचे, तो कानयिन का प्राणहीन शरीर वहाँ पड़ा था। उसके मुख पर विजय का गर्व था। उन्होने जल्दी-जल्दी उसके कपड़ो की तलाशी ली, फिर धीरे-धीरे ली। कुछ न मिला। क्रुद्ध होकर उन्होने ठोकरें मार-मारकर उसके शरीर को नदी मे गिरा दिया। वह कुछ देर चक्कर खाकर डूब गया। कुछ बुलबुले उठे, फिर सीक्यांग का प्रवाह पूर्ववत् हो गया। युवान शिकाई के सैनिको ने देखा कि दूर पानी मे कोई तैर रहा है। उन्होने उसका ही निशाना लेकर गोलियाँ चलानी प्रारम्भ कर दी। कितनी ही देर तक वे गोलियाँ चलाते रहे। धीरे-धीरे उस व्यक्ति का दीखना बन्द हो गया, शायद डूब गया, या उस अनियन्त्रित प्रवाह मे बह गया। वे लौट गए।

  

कैन्टन के बाहर, सीक्यांग के किनारे, बहुत से मछुए आकर बैठे हुए थे। कुछ पकड़ने की आशा से नहीं, केवल इसी चिन्ता का निवारण करने के लिए कि बाढ़ कब उतरेगी। सूर्य का उदय हो गया था। बादल फट रहे थे। वर्षा का अन्त होनेवाला था, पर नदी में पानी अभी बढ़ता जा रहा था, और वे मछुए बैठकर देख रहे थे। कोई कह रहा था--"बाढ़ से एक फ़ायदा है। युवान शिकाई इस पार नहीं आ सकेगा।"

कोई और पूछ रहा था—"सुना है, युवान शिकाई की सेना कुल पचास मील दूर रह गई है। क्या यह ठीक बात है?"

एक तीसरा बोला--"हमारी सेना में बहुत अच्छे-अच्छे आदमी हैं। हमारी हार नहीं हो सकती।"

दूर कहीं कोलाहल हुआ--"वह देखो, क्या है? कोई मरा हुआ जानवर बह रहा है! नहीं-नहीं, यह तो आदमी है, आदमी।"

सब लोग उधर देखने लगे। फिर कहीं से दो आदमी, एक छोटी-सी नाव पर बैठकर, तीव्र गति से उधर चले। उन्होंने दो-तीन बार जाल डाला, पर असफल हुए। फिर किनारे पर खड़े दर्शकों ने देखा कि वे दोनों धीरे-धीरे कुछ खींच रहे हैं।

थोड़ी देर में उन्होंने एक शरीर निकालकर नाव में रखा और किनारे चले आए।

दर्शकों की भीड़ लग गई। सब अपने-अपने मत का दिग्दर्शन करने लगे।

"कैसा बाँका जवान है।"

"अभी बिलकुल बच्चा है।"

"वह देखो, बाँह से ख़ून निकल रहा है।"

"फौजी वर्दी पहने हुए है।"

"युवान शिकाई का आदमी तो नहीं है?"

"नहीं, सिर पर चोटी नहीं है, कैन्टन का ही सिपाही होगा।"

"यह बाँह में गोली लगी है।"

"कितना ख़ून बह गया है, पीला पड़ गया है।"

"मर गया है।"

"नहीं, अभी जीता है।"

वह शरीर कुछ हिला, फिर उसने आँखें खोलीं. "मैं कहाँ हूँ?"

"यह है कैन्टन। कहाँ से आ रहे हो?"

"कैन्टन, वह लाल मकान!"

आँखें फिर बन्द हो गईं। थोड़ी देर बाद शरीर में कंपन हुआ, आँखे खुलीं। उनमें एक विचित्र तेज था।

"मुझे उठाकर ले चलो।"

"कहाँ?"

"वह बड़ा मकान--डायना पेइफ़ का--उसमें!" वे उसे उठा कर सावधानी से धीरे-धीरे ले चले।

"जल्दी! जल्दी!"

वे तेज़ चलने लगे, तब भी उसे सन्तोष न हुआ।

"और जल्दी !"

वे दौड़ने लगे।

थोड़ी देर में उस मकान के सामने पहुँच गए। वह शरीर फिर संज्ञाशून्य हो गया था।

उसने धीरे-धीरे आँखें खोलीं। वह एक बड़े सुन्दर कमरे में सोफे पर पड़ी हुई थी। पास एक स्त्री खड़ी थी। आँखें खुलती देखकर उसने चिन्तित स्वर में पूछा—"अब कैसा हाल है?"

हारिति ने प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। बोली—"आप ही डायना पेड्फू हैं?"

"हाँ, कहिए!"

"आप के लिए एक पत्र है।"—हारिति ने पत्र निकालने का प्रयत्न किया, पर हाथों में शक्ति नहीं थी। अपने कमरबन्द की ओर इंगित करके ही वह रह गई।

डायना ने स्वयं पत्र निकाला, और खोला। उसका मुख लाल हो गया। आँखें लज्जा से कुछ झुक गईं। उसने पत्र को चूम लिया, और धीरे से कहा—"प्रियतम!"

हारिति देख रही थी। यह दृश्य देखकर उसके नेत्रों का तेज एकाएक बुझ गया। उसने आँखें मूँद लीं। दो-तीन चित्र उसके आगे दौड़ गए—दो-तीन स्मृतियाँ—वे मरते हुए बन्धु—वह दीन घोड़ा—कानयिन और उसके शब्द—"हारिति, हमारी जीत होगी।" "हारिति, क्या यह विदा है?" "जाओ, हारिति, जाओ। तुम वीर हो—मैं भी अधीर नहीं होऊँगा।"

व्यथा की एक रेखा उसके मुख पर दौड़ गई। यही था काम, जिसके लिए उसने इतनी मेहनत की थी; यही थी सेवा, जिसके लिए उसने इतना वलिदान किया था; यही था अनुष्ठान, जिसकी पूर्ति के लिए उसने उस घोड़े की, उन वन्धुओं की, और क्वानयिन—क्वानियन की आहुति दी थी—यह प्रेम-प्रवंचना !

हारिति को मालूम हुआ, उसका गला घुट रहा है। उसके निर्वल शरीर में एकाएक स्फूर्ति आ गई। उसने एक झटके में अपनी मोटी कमीज फाड़ डाली। उसके मुख पर एक आन्तरिक विचार-तरंग की झलक, एक हलकी-सी हँसी छा गई—एक हँसी, जिसमें सफलता की शान्ति नहीं थी, विजय का गर्व नहीं था, था केवल एक भयंकर उपहासमय तिरस्कार।

डायना ने उसकी ओर देखा और चौंकी। उसके मुख पर से वह अनुराग की आभा वुझ गई। हारिति के वक्ष की ओर देखती हुई विस्मित, चिन्तित, भीत-स्वर में वह बोली—"ओह ! तुम – तुम तो स्त्री हो !"

पर तव हारिति स्त्री नहीं रही थी। वहाँ जो पड़ा हुआ था, वह था केवल किसी स्वर्गीय व्यक्ति का परित्यक्त शरीर !

और हारिति के ऊपर पड़ा हुआ वह चीनी अजगर मानों उसके मुख पर व्यक्त उस तिरस्कार को प्रतिविम्वित करके हँसे जा रहा था।

रोज़

बिन्दु को

डलहौज़ी जेल,
मई, १९३१

दोपहर में उस घर के सूने आँगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानों उसपर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो, उसके वातावरण मे कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझिल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था ..

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देखकर, पहचानकर उसकी मुरझाई हुई मुख-मुद्रा तनिक-से मीठे विस्मय से जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गई। उसने कहा—"आ जाओ।" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मैं भी उसके पीछे हो लिया।

भीतर पहुँचकर मैंने पूछा—"वे यहाँ नहीं है ?"

"अभी आये नहीं, दफ्तर में हैं। थोड़ी देर मे आ जाएँगे। कोई डेढ़-दो बजे आया करते है।"

"कब के गए हुए है ?"

"सबेरे उठते ही चले जाते हैं—"

मै 'हूँ' कहकर पूछने को हुआ "और तुम इतनी देर क्या करती हो ?" पर फिर सोचा, आते ही एकाएक यह प्रश्न ठीक नही है। मै कमरे के चारो ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लाई, और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा- "नही, मुझे नही चाहिए।" पर वह

नहीं मानी, बोली—"वाह ! चाहिए कैसे नहीं ? इतनी धूप में तो आए हो। यहाँ तो—"

मैंने कहा—"अच्छा लाओ मुझे दे दो।"

वह शायद 'ना' करने को थी ; पर तभी दूसरे कमरे से शिशु के रोने की आवाज़ सुनकर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और घुटनों पर हाथ टेककर एक थकी हुई 'हुँह' करके उठी और भीतर चली गई।

मै उसके जाते हुए दुबले शरीर को देखकर सोचता रहा—यह क्या है . यह कैसी छाया-सी इस घर पर छाई हुई है ..

मालती मेरी दूर के रिश्ते की बहिन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्य का ही रहा है। हम बचपन से इकट्ठे खेले है, इकट्ठे लड़े और पिटे हैं, और हमारी पढ़ाई भी बहुत-सी इकट्ठे ही हुई थी। और हमारे व्यवहार मे सदा सख्य की स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के, या बड़े-छोटेपन के बन्धनो में नहीं घिरा।

मै आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इससे पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी ; अब वह विवाहिता है, एक बच्चे की माँ भी है। इससे कोई परिवर्त्तन उसमें आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभी तक सोचा नहीं था ; किन्तु अब उसकी पीठ की ओर देखता हुआ मै सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छाई हुई है ..और विशेषतया मालती पर ..

मालती बच्चे को लेकर लौट आई और फिर मुझसे कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरी पर बैठ गई। मैंने अपनी कुर्सी घुमाकर कुछ उसकी ओर उन्मुख होकर पूछा, "इसका नाम क्या है?"

मालती ने बच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया—"नाम तो कोई निश्चित नहीं किया, वैसे टिटी कहते है।"

मैंने उसे बुलाया—"टिटी! टिटी! आजा!" पर वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा-सा होकर कहने लगा—"उहुँ-उहुँ-उहुँ-ऊँ .."

मालती ने फिर उसकी ओर एक नज़र देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखने लगी।

काफी देर मौन रहा। थोड़ी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिसमें मै प्रतीक्षा मे था कि मालती कुछ पूछे; किन्तु उसके बाद एकाएक मुझे ध्यान हुआ, मालती ने कोई बात ही नही की—यह भी नही पूछा कि मै कैसा हूँ, कैसे आया हूँ. चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष में ही वे बीते दिन भूल गई? या अब मुझे दूर—इस विशेष अन्तर पर—रखना चाहती है? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नही हो सकती...पर फिर भी, ऐसा मौन, जैसा अजनबी से भी नही होना चाहिए...

मैंने कुछ खिन्न-सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा—"जान पड़ता है, तुम्हे मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं हुई।"

उसने एकाएक चौंककर कहा—"हूँ?"

यह 'हूँ' प्रश्नसूचक था; किन्तु इसलिए नही कि मालती ने

मेरी बात सुनी नहीं थी, केवल विस्मय के कारण। इसलिए मैंने अपनी बात दुहराई नहीं, चुप बैठ रहा। मालती कुछ बोली ही नहीं, तब थोड़ी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी; किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आँखें नीची कर लीं। फिर भी मैंने देखा—उन आँखों मे कुछ विचित्र-सा भाव था; मानो मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमण्डल को पुनः जगाकर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो . वैसे जैसे बहुत देर से प्रयोग मे न लाए हुए अंग को कोई व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाए कि वह उठता ही नहीं है, चिर-विस्मृति मे मानों मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता...मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो किसी जीवित प्राणी के गले में किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतारकर फेंकना चाहे, पर उतार न पाए ..

तभी किसी ने किवाड़ खटखटाए। मैंने मालती की ओर देखा; पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाए गये, तब वह शिशु को अलग करके उठी और किवाड़ खोलने गई।

वे, यानी मालती के पति आए। मैंने उन्हे पहली ही बार देखा था, यद्यपि फोटो से उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ।

मालती खाना तैयार करने आँगन मे चली गई, और हम दोनो भीतर बैठकर बातचीत करने लगे। उनकी नौकरी के बारे मे, उनके जीवन के बारे मे, उस स्थान के बारे में, आबोहवा के बारे में और ऐसे अन्य विषयो के बारे मे जो पहले परिचय पर उठा करते है, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बनकर...

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वे एक पहाड़ी गाँव में सरकारी डिस्पेंसरी के डाक्टर है। उसी हैसियत से इन क्वार्टर्स में रहते हैं। प्रातःकाल सात बजे डिस्पेंसरी चले जाते हैं और डेढ़ या दो बजे लौटते है। उसके बाद दोपहर भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घण्टे फिर चक्कर लगाने के लिए जाते हैं, डिस्पेंसरी के साथ के छोटे-से अस्पताल मे पड़े हुए रोगियों को देखने और अन्य ज़रूरी हिदायतें करने..उनका जीवन भी बिल्कुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है। नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज़, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ...वे स्वयं उकताए हुए हैं, और इसलिए और साथ ही इस भयंकर गर्मी के कारण वे अपने फुरसत के समय मे भी सुस्त ही रहते हैं...

मालती हम दोनों के लिए खाना ले आई। मैने पूछा—"तुम नही खाओगी ? या खा चुकी ?"

महेश्वर बोले, कुछ हँसकर—"वह पीछे खाया करती हैं .."

पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं; इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी !

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देखकर बोले—

"आपको तो खाने का मज़ा क्या ही आएगा, ऐसे वेवक्त खा रहे है ?"

मैंने उत्तर दिया—"वाह ! देर से खाने पर तो और भी अच्छा लगता है—भूख वढ़ी हुई होती है ! पर शायद मालती वहिन को कष्ट होगा—"

मालती टोककर वोली—"ऊँहु, मेरे लिए तो यह नई वात नही है—रोज़ ही ऐसा होता है .."

मालती वच्चे को गोद मे लिए हुए थी। वच्चा रो रहा था; पर उसकी ओर कोई भी ध्यान नही दे रहा था।

मैंने कहा—"यह रोता क्यों है ?"

मालती वोली "हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है !" फिर वच्चे को डाँटकर कहा—"चुप कर !" जिससे वह और भी रोने लगा। मालती ने भूमि पर विठा दिया और वोली—"अच्छा ले, रो ले !" और रोटी लेने आँगन की ओर चली गई।

जव हमने भोजन समाप्त किया, तव तीन वजने वाले थे। महेश्वर ने वताया कि उन्हे आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक-दो चिन्ताजनक केस आए हुए है, जिन का आपरेशन करना पड़ेगा—दो की शायद टाँगे काटनी पड़े, Gangrene हो गया है . थोड़ी ही देर मे वे चले गए। मालती किवाड़ वन्द कर आई और मेरे पास वैठने ही लगी थी कि मैंने कहा—"अव खाना तो खालो, मै उतनी देर टिटी से खेलता हूँ।"

वह बोली—"खालूँगी, मेरे खाने की कौन बात है," किन्तु चली गई। मैं टिटी को हाथ मे लेकर झुलाने लगा, जिससे वह कुछ देर के लिए शान्त हो गया।

दूर—शायद अस्पताल में ही, तीन खड़के। एकाएक मै चौंका। मैंने सुना, मालती वहीं आँगन में बैठी, अपने-आप ही, एक लम्बी-सी, थकी हुई साँस के साथ कह रही है—"तीन बज गए..." मानों बड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो ..

थोड़ी ही देर मे मालती फिर आ गई। मैंने पूछा—"तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था? सब कुछ तो—"

"बहुत था—"

"हाँ, बहुत था! भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नहीं, यों ही रोब तो न जमाओ कि बहुत था!" मैंने हँसकर कहा।

मालती मानों किसी और विषय की बात कहती हुई, बोली—"यहाँ सब्ज़ी-बब्ज़ी तो कुछ होती नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचे से मँगा लेते हैं। मुझे आए पन्द्रह दिन हुए है, जो सब्ज़ी साथ लाए थे, वही अभी बर्ती जा रही है..."

मैंने पूछा, "नौकर कोई नही है?"

"कोई ठीक मिला नहीं, शायद दो-एक दिन में हो जाय।"

"बर्तन भी तुम्हीं माँजती हो?"

"और कौन ?" कहकर मालती क्षण-भर आँगन में जाकर लौट आई।

मैंने पूछा, "कहाँ गई थीं ?"

" आज पानी ही नहीं है, वर्तन कैसे मँजेंगे !"

"क्यों, पानी को क्या हुआ ?"

"रोज़ ही होता है—कभी वक्त पर तो आता नहीं। आज शाम को सात बजे आएगा, तब वर्तन मँजेंगे।"

"चलो तुम्हे सात बजे तक छुट्टी तो हुई",– कहते हुए मैं मन ही मन सोचने लगा, 'अब इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई !'

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था ; पर मेरी सहायता टिटी ने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने की चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा। मैंने जेब से अपनी नोटबुक निकाली, और पिछले दिनों के लिखे हुए नोट देखने लगा। तब मालती को याद आया कि उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं, और बोली, "यहाँ आए कैसे ?"

मैंने कहा ही तो—"अच्छा, अब याद आया ? तुमसे मिलने आया था, और क्या करने ?"

"तो दो-एक दिन रहोगे न ?"

"नहीं, कल चला जाऊँगा, जरूरी जाना है।"

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न-सी हो गई। मैं फिर नोटबुक की तरफ देखने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालती से मिलने, किन्तु यहाँ वह बात करने को बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ! पर बात भी क्या की जाय? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रहकर भी मानों मुझे भी वश कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती ..

मैंने पूछा—"तुम कुछ पढ़ती-लिखती नहीं?" मैं चारो ओर देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें।

"यहाँ!" कहकर मालती थोड़ा-सा हँसदी। वह हँसी कह रही थी—यहाँ पढ़ने को है क्या?

मैंने कहा—"अच्छा, मैं वापस जाकर जरूर कुछ पुस्तकें भेजूँगा..." और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया ..

थोड़ी देर बाद मालती ने फिर पूछा, "आये कैसे हो, लारी में?"

"पैदल।"

"इतनी दूर? बड़ी हिम्मत की!"

"आख़िर तुमसे मिलने आया हूँ।"

"ऐसे ही आए हो?"

"नहीं, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर। मैंने सोचा—बिस्तरा ले ही चलूँ।"

"अच्छा किया, यहाँ तो वस..." कहकर मालती चुप रह गई। फिर वोली—"तव तुम थके होगे, लेट जाओ।"

"नही, विल्कुल नहीं थका।"

"रहने भी दो, थके नही हैं! भला थके हैं?"

"और तुम क्या करोगी?"

"मै वर्तन माँज रखती हूँ, पानी आएगा तो धुल जायँगे!"

मैने कहा, "वाह!" क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नही ..

थोड़ी देर मे मालती उठी और चली गई, टिटी को साथ लेकर। तव मैं भी लेट गया और छत की ओर देखने लगा, और सोचने लगा. मेरे विचारो के साथ आँगन से आती हुई वर्तनो के घिसने की खन-खन ध्वनि मिलकर एक विचित्र एकस्वरता उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा...

एकाएक वह एकस्वरता टूट गई—मौन हो गया। इससे मेरी तन्द्रा भी टूटी, मै उस मौन में सुनने लगा—

चार खड़क रहे थे, और इसी का पहला घण्टा सुनकर मालती रुक गई थी...

वही तीन वजेवाली वात मैने फिर देखी, अव की वार और भी उग्र रूप मे। मैंने सुना, मालती एक विल्कुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस, यन्त्रवत्—वह भी थके हुए यन्त्र की भाँति—स्वर में कह रही है—"चार वज गए .." मानो इस

अनैच्छिक समय गिनने-गिनने मे ही उसका मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडॉमीटर यंत्रवत् फासला नापता जाता है, और यन्त्रवत् विश्रान्त-स्वर मे कहता है (किससे !) कि मैंने अपने अमित शून्यपथ का इतना अंश तय कर लिया ..

न-जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गई ..

  

तब छः कभी के बज चुके थे, जब किसी के आने की आहट से मेरी नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं, और उनके साथ ही बिस्तर लिए हुए मेरा कुली। मै मुँह धोने को पानी माँगने ही को था कि मुझे याद आया, पानी नही होगा। मैंने हाथों से मुँह पोछते-पोछते महेश्वर से पूछा—"आपने बड़ी देर की ?"

उन्होने किञ्चित् ग्लानि-भरे स्वर मे कहा—"हॉ, आज वह Gangrene का आपरेशन करना ही पड़ा। एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेन्स में बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।"

मैंने पूछा—"Gangrene कैसे हो गया ?"

"एक कॉटा चुभा था, उसी से हो गया। बड़े लापरवाह लोग होते है यहाँ के.. ..."

मैने पूछा—"यहाँ आपको केस अच्छे मिल जाते है ? आय के लिहाज़ से नहीं, डॉक्टरी के अभ्यास के लिए ?"

बोले—"हाँ, मिल ही जाते हैं। यहाँ Gangrene, हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है। नीचे बड़े अस्पतालों से भी .."

मालती आँगन से ही सुन रही थी, अब आ गई, बोली—"हाँ, केस बनाते देर क्या लगती है? काँटा चुभा था, उसपर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डॉक्टरी है? हर दूसरे दिन किसी की टाँग, किसी की बाँह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास!"

महेश्वर हँसे। बोले—"न काटे तो उसकी जान गवाएँ?"

"हाँ! पहले तो दुनिया मे काँटे ही नहीं होते होंगे? आज तक तो सुना नहीं था कि काँटों के चुभने से मर जाते हों।"

महेश्वर ने उत्तर नहीं दिया, मुस्करा दिए। मालती मेरी ओर देखकर बोली—"ऐसे ही होते हैं डॉक्टर! सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। मैं तो रोज़ ही ऐसी बातें सुनती हूँ। अब कोई मर-मुर जाय तो खयाल ही नहीं होता। पहले तो रात-रात भर नींद नहीं आया करती थी!"

तभी आँगन मे खुले हुए नल ने कहा—टिप, टिप, टिप, टिप, टटटिप .. ..

मालती ने कहा—"पानी!" और उठकर चली गई। 'खन-खन' शब्द से हमने जाना, बर्तन धोए जाने लगे है।

टिटी महेश्वर की टाँगो के सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था। अब एकाएक उन्हें छोड़कर मालती की ओर खिसकता हुआ

चला। महेश्वर ने कहा—"उधर मत जा!" और उसे गोद में उठा लिया। वह मचलने और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा।

महेश्वर बोले—"अब रो-धोकर सो जायगा, तभी घर में चैन पड़ेगी!"

मैंने पूछा—"आप लोग भीतर ही सोते है? गर्मी तो बहुत होती है?"

"होने को तो मच्छर भी बहुत होते है; पर ये लोहे के पलंग उठाकर बाहर कौन ले जाए! अब की नीचे जाएँगे, तो चारपाइयाँ ले आएँगे।" फिर कुछ रुककर बोले—"आज तो बाहर ही सोएँगे। आप के आने का इतना लाभ ही होगा!"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वर ने उसे एक पलंग पर बिठा दिया, और पलंग बाहर खीचने लगे। मैंने कहा, "मै मदद करता हूँ", और दूसरी ओर से पलंग उठाकर बाहर निकलवा दिए।

अब हम तीनो—महेश्वर, टिटी और मै, दो पलंगो पर बैठ गए और वार्त्तालाप के लिए उपयुक्त विषय न पाकर उस कमी को छिपाने के लिए टिटी से खेलने लगे। बाहर आकर वह कुछ चुप हो गया था; किन्तु बीच-बीच मे जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्तव्य याद करके रो उठता था और फिर एकदम चुप हो जाता था...और तब कभी-कभी हम हँस पड़ते थे, या महेश्वर उसके बारे में कुछ बात कह देते थे.

मालती बर्तन धो चुकी थी। जब वह उन्हे लेकर आँगन के

एक ओर रसोई के छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा—"थोड़े से आम लाया हूँ, वे भी धो लेना।"

"कहाँ है ?"

"अंगीठी पर रखे है—कागज़ मे लिपटे हुए।"

मालती ने भीतर जाकर आम उठाए और अपने आँचल में डाल लिए। जिस कागज़ में वे लिपटे हुए थे, वह किसी पुराने अख़बार का टुकड़ा था। मालती चलती-चलती सन्ध्या के उस क्षीण प्रकाश में उसी को पढ़ती जा रही थी......वह नल के पास जाकर खड़ी उसे पढ़ती रही, जब दोनो ओर पढ़ चुकी, तब एक लम्बी साँस लेकर उसे फेंककर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया...बहुत दिनो की बात थी—जब हम अभी स्कूल मे भरती हुए ही थे। जब हमारा सबसे बड़ा सुख, सबसे बड़ी विजय थी, हाज़िरी हो चुकने के बाद चोरी से क्लास से निकल भागना और स्कूल से कुछ दूर पर आम के बगीचे में पेड़ो पर चढ़कर कच्ची आमियाँ तोड़-तोड़कर खाना। मुझे याद आया—कभी जब मै भाग आता था और मालती नही आ पाती थी, तब मै भी खिन्नमन लौट जाया करता था ..

मालती कुछ नही पढ़ती थी, उसके माता-पिता तंग थे। एक दिन उसके पिता ने उसे एक पुस्तक लाकर दी, और कहा कि इसके बीस पेज रोज़ पढ़ा करो। हफ्ते भर बाद मै देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो। नही तो मार-मारकर चमड़ी उधेड़ दूँगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली; पर क्या उसने पढ़ी ? वह

नित्य ही उसके दस पन्ने, वीस पेज, फाड़कर फेंक देती, अपने खेल में किसी भाँति फर्क न पड़ने देती। जब आठवें दिन उसके पिता ने पूछा, "किताव समाप्त कर ली ?" तो उत्तर दिया—'हाँ, कर ली।" पिता ने कहा, "लाओ, मैं प्रश्न पूछूँगा।"—तो चुप खड़ी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर में वोली—"किताब मैंने फाड़कर फेंक दी है। मै नहीं पढ़ूँगी!"

उसके बाद वह वहुत पिटी, पर वह अलग बात है...इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चञ्चल मालती आज कितनी सीधी हो गई है, कितनी शान्त, और एक अखबार के टुकड़े को तरसती है. यह क्या है, यह—

तभी महेश्वर ने पूछा—"रोटी कब बनेगी ?"

"वस, अभी बनाती हूँ।"

पर, अब की वार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्तव्यभावना वहुत विस्तीर्ण हो गई। वह मालती की ओर हाथ वढ़ाकर रोने लगा और नहीं माना, नही माना। मालती उसे भी गोद मे लेकर चली गई। रसोई मे बैठकर एक हाथ से उसे थपकने और दूसरे से कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठाकर अपने सामने रखने लगी.

और हम दोनो चुपचाप रात्रि की, और भोजन की, और एक दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्त्ति की, प्रतीक्षा करने लगे।

  

हम भोजन कर चुके थे, और विस्तरों पर लेट गये थे। टिटी सो गया था, मालती उसे अपने पलंग के एक ओर मोमजामा विछाकर उसपर लिटा गई थी। वह सो तो गया था; पर नींद में कभी-कभी चौंक उठता था। एक वार तो उठकर वैठ भी गया था; पर तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वर से पूछा—"आप तो थके होंगे, सो जाइए।"

वे वोले—"थके तो आप अधिक होंगे—अठारह मील पैदल चल कर आए है।" किन्तु उनके स्वर ने मानो जोड़ दिया—"थका तो मै भी हूँ।"

मै चुप हो रहा। थोड़ी ही देर में किसी अपर संज्ञा ने मुझे वताया, वे ऊँघ रहे है।

तव लगभग साढ़े दस वजे थे। मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोड़ी देर मालती की ओर देखता रहा, वह किसी विचार मे (यद्यपि वहुत गहरे विचार मे नहीं) लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी। फिर मै इधर-उधर खिसककर, पलंग पर आराम से होकर, आकाश की ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी। आकाश अनभ्र था।

मैने देखा—उस सरकारी क्वार्टर की दिन में अत्यन्त शुष्क और नीरस लगनेवाली, स्लेट की छत की स्लेटें भी चाँदनी मे चमक रही है, अत्यन्त शीतलता और स्निग्धता से छलक रही है, मानों चन्द्रिका उनपर से वहती हुई आ रही हो, झर रही हो...

मैंने देखा—पवन में चीड़ के वृक्ष—गर्मी से सूखकर मटमैले हुए चीड़ के वृक्ष—धीरे-धीरे गा रहे है—कोई राग जो कोमल है, किन्तु करुण नहीं ; अशान्तिमय है, किन्तु उद्वेगमय नहीं ..

मैंने देखा—प्रकाश से धुँधले नील आकाश के पट पर जो चमगादड़ नीरव उड़ान से चक्कर काट रहे है, वे भी सुन्दर दीखते हैं ..

मैंने देखा—दिन भर की तपन, अशान्ति, थकान, दाह, पहाड़ों में से भाप की नाईं उठकर वातावरण मे खोए जा रहे हैं, और ऊपर से एक कोमल, शीतल, सम्मोहन, आह्लाद-सा बरस रहा है, जिसे ग्रहण करने के लिए पर्वत-शिशुओं ने अपनी चीड़-वृक्ष रूपी भुजाएँ आकाश की ओर बढ़ा रखी हैं ..

पर यह सब मैंने ही देखा, अकेले मैंने...महेश्वर ऊँघ रहे थे, और मालती उस समय भोजन से निवृत्त होकर, दही जमाने के लिए मिट्टी का बर्त्तन गर्म पानी से धो रही थी और कह रही थी, "बस, अभी छुट्टी हुई जाती है।" और मेरे कहने पर कि "ग्यारह बजनेवाले हैं," धीरे से सिर हिलाकर जता रही थी कि रोज ही इतने बज जाते हैं . मालती ने वह सब कुछ नहीं देखा। मालती का जीवन अपनी रोज़ की नियत गति से बहा जा रहा था और एक चन्द्रमा की चन्द्रिका के लिए, एक संसार के सौन्दर्य के लिए, रुकने को तैयार नही था. .

चाँदनी मे शिशु कैसा लगता है, इस अलस जिज्ञासा से मैंने टिटी की ओर देखा। और वह एकाएक मानो किसी शैशवोचित

वासता से उठा और खिसककर पलंग से नीचे गिर पड़ा; और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा। महेश्वर ने चौंककर कहा—"क्या हुआ ?" मैं झपटकर उसे उठाने दौड़ा, मालती रसोई से बाहर निकल आई, मैंने उस 'खट !' शब्द को याद करके, धीरे से करुणा-भरे स्वर में कहा—"चोट बहुत लग गई बिचारे के... !"

यह सब मानों एक ही क्षण में, एक ही क्रिया की गति में हो गया।

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझसे लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा—"इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज़ ही गिर पड़ता है।"

एक छोटे क्षण-भर के लिए, मै स्तब्ध हो गया। फिर एकाएक मेरे मन ने, मेरे समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर में कहा—कहा मेरे मन के भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला !—"माँ, युवती माँ ! यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है, जो तुम अपने एकमात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो...और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है !"

और, तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नहीं है। मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब में कोई गहरी, भयङ्कर छाया घर कर गई है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन मे घुन की तरह लग गई है, उसका इतना अभिन्न अङ्ग हो गई है

कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं, मैंने उस छाया को देख भी लिया।

इतनी देर में, पूर्ववत् शान्ति हो गई थी। महेश्वर फिर लेट कर ऊँघ रहे थे। टिटी मालती के लेटे हुए शरीर से चिपटकर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उसके छोटे-से शरीर को हिला देती थी। मैं भी अनुभव करने लगा था कि बिस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप ऊपर आकाश में देख रही थी; किन्तु क्या चंद्रिका को? या तारों को? ..

तभी ग्यारह का घंटा बजा। मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठाकर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी और घण्टाध्वनि के कम्पन के साथ ही मूक हो जानेवाली आवाज़ में उसने कहा—"ग्यारह बज गए!..."

अकलंक

इन्दु को

देहली जेल,
सितम्बर, १९३१

वे दोनों उस टीलेकी चोटीपर खड़े थे। चारों ओर काले-काले बादल घिरे हुए थे, धारासार वर्षा हो रही थी, टीलेके नीचे घहराता हुआ ह्वांग-हो नदी का प्रवाह था, और जहाँ तक दृष्टि जाती थी, पानी-ही-पानी नज़र आता था।

वे दोनो वर्षाकी तनिक भी परवाह न करते हुए टीलेके शिखर पर खड़े थे।

वह चीनी प्रजातन्त्र सेना की वर्दी पहने हुए था, और भीगता हुआ सावधान मुद्रामें खड़ा था।

स्त्रीने एक बड़ी-सी ख़ाकी बरसातीमे अपना शरीर लपेट रखा था। उसके वस्त्राभूषण कुछ भी नही दीख पड़ते थे। उसने वेदना-भरे स्वरमें कहा—"मार्टिन, तुम्हे भी अपना घर डुबा देना होगा। मेड़ काट देना, नदी स्वयं भर आएगी।"

मार्टिन कुछ देर चुप रहा। फिर बोला—"क्रिस, क्या इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है?"

स्त्रीने चौंककर कहा—"मार्टिन, यह क्या? सेनापतिकी जो आज्ञा है, उसका उल्लंघन करोगे?"

"उल्लंघन नही। लेकिन अगर बिना शत्रुको आश्रय दिए ही घर बच जाय, तो क्यो न बचा लिया जाय?"

"औरोंके भी तो घर थे?"

"वे किसान थे। मैं राष्ट्रका सैनिक हूँ। शायद अपने घरकी शत्रुसे रक्षा कर सकूँ।"

"मार्टिन, तुम्हें क्या हो गया है? तुम अकेले क्या करोगे? हम सब यहाँ से चले जाएँगे। शत्रु के लिए इतना विशाल भवन छोड़ दोगे, तो हमारे बलिदान का क्या लाभ होगा? हमने अपने घर डुबा दिए हैं, केवल इसीलिए कि शत्रुको आश्रय न मिले। और तुम अपना घर रह जाने दोगे?"

"मेरा घर इतना विशाल है कि उसमें समूचा गाँव आकर रह सकता है।"

"इसीलिए तो उसे डुबाना अधिक आवश्यक है। मार्टिन, सम्पत्तिका इतना मोह!"

मार्टिनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो किसीने उसे थप्पड़ मार दिया हो। तनकर बोला—"क्रिस, यह मोह नहीं है।" फिर एका-एक पास आकर उसने स्त्री का हाथ पकड़ लिया। "क्रिस, अभी तुम्हें नहीं समझा सकूँगा कि क्या चाहता हूँ; किन्तु विश्वास रखो, मैं जो करना चाहता हूँ, उसीमें देश का भला है। तुम इतना विश्वास नहीं करती?" कहकर मार्टिन उसे अपनी ओर खींचने लगा।

स्त्रीने झटककर हाथ छुड़ा लिया, और अलग हटकर खड़ी हो गई। बोली—"तुम अपना कर्त्तव्य नहीं कर रहे, मैं तो यही समझ पाती हूँ। सैनिक हो, सेनापति की आज्ञाका उल्लंघन कर रहे हो। इससे अधिक क्या लाभ सोच रहे हो, कौन गुरुतर

कर्त्तव्य, मै नही जानती, न जानना ही चाहती हूँ।" वह घूमकर टीले से उतर चली।

मार्टिन क्षण-भर तक स्तब्ध रह गया। फिर उसने व्यथित स्वरमें पुकारा—"क्रिस्टाबेल! क्रिस्टाबेल!"

किन्तु क्रिस्टाबेल ने मुँह फेरकर देखा भी नही।

मार्टिनने एक लम्बी साँस ली, और फिर टीलेसे दूसरी ओर उतरने लगा। उतरकर वह जल्दी-जल्दी कदम रखता हुआ चला। कोई मील-भर जाकर वह एक बड़े भवनके पास पहुँच गया। उसने दरवाज़ेपर से ही आवाज़ दी—"कोई है?"

एक भृत्य आकर सामने खड़ा हो गया। मार्टिनने तीव्र दृष्टिसे उसकी ओर देखकर कहा—"तीन घोड़े ले आओ और पहननेको कपड़े। ज़ीन एक ही घोड़ेपर डालना।"

भृत्यने अत्यन्त विस्मयके स्वरमें कहा—"यहीं पर?"

"हाँ, यहीं! फौरन!"

भृत्य भवनके अन्दर गया और कपड़े ले आया। मार्टिनने कपड़े ले लिए, और बोला—"कपड़े मैं स्वयं पहन लूँगा; तुम घोड़े ले आओ!"

भृत्य चुपचाप चला गया। जब वह घोड़े लेकर आया, तब मार्टिन वस्त्र बदल चुका था और घुड़सवारीके उपयुक्त वेशमे खड़ा था। घोड़ोंके आते ही वह एक पर सवार हो गया और बोला—"मेरी बन्दूक ले आओ।"

भृत्य दौड़कर बन्दूक ले आया। फिर उसने आदर-भाव से पूछा—"कब लौटना होगा ?"

मार्टिनने घोड़े को एड़ लगाते हुए कहा—"तुमसे मतलब ?"

थोड़ी देरमे घुड़सवार, उसका घोड़ा और उसके अनुगामी दोनों घोड़े भी आँखोसे ओझल हो गए। भृत्य तब तक वहीं खड़ा उसे देखता रहा, विस्मयका भाव उसके मुख पर उसी भाँति बना रहा।

२

"तुमने सुना ? मार्टिन द्रोही है।"

"क्यो ? कैसे ? क्या हुआ ?"

वर्षा हो रही थी। एक छोटे-से मैदानमें बहुत से स्त्री-पुरुष एकत्र थे। प्रत्येकके पास एक-आध छोटी गठरी थी, जिसमे उन्होने अपनी ऐहिक सम्पत्ति बाँध रखी थी। किसी-किसी भाग्य-शालीके पास एक गधा भी था, जिसपर उसने कुछ सामान लाद रखा था। अनेक स्त्रियोको घेरे हुए, या उनकी गोदमे, छोटे-छोटे बच्चे भी थे। सब-के-सब सर्दीसे ठिठुर रहे थे; किन्तु कोई भी इसकी शिकायत नही कर रहा था। सबके मनमें एक ही भाव था कि अगर हमारे मनमें छिपी हुई पीड़ा और अशान्ति व्यक्त हो जायगी, तो फिर हमारा साहस टूट जायगा . उस मूक अभि-मानके कारण ही वे अब तक बचे हुए थे। उन्हे उस स्थानपर, उस दशामें, एक ही रात काटनी थी, क्योंकि प्रातःकाल ही उन्हें ले जानेके लिए दूसरे गॉवसे कुछ घोड़े आने वाले थे। फिर भी, वे

किसान थे, ग़रीब थे, अपनी दो हाथ भूमि और दो मुट्ठी अन्न को प्राणों से भी अधिक चाहते थे !

रातके दस बज चुके थे। कृषक-समूह, जो अब तक प्रतीक्षा-पूर्ण नेत्रों से मार्टिन के घर की ओर देख रहा था, अब यह समाचार पाकर सिहर उठा।

"क्यों ? कैसे ? क्या हुआ ?"

"तुमने सुना नहीं ? उसने कहा है कि मैं सेनापतिकी आज्ञा माननेको बाध्य नहीं हूँ। जो अच्छा समझूँगा, करूँगा।"

"तुम से किसने कहा ?"

"क्रिस्टाबेल उसे कहने गई थी, उसी से उसने यह बात कही है। उसके बाद ही वह घरसे तीन घोड़े लेकर कहीं चला गया है ?"

लोग अब तक थके हुए और उन्मन बैठे थे, अब मानो वेदनाकी तन्द्रासे जागे और पूछने लगे—"अब क्या होगा ?" अनेक मुखोंसे अनेक प्रकारकी आलोचनाएँ होने लगीं।

"होगा क्या ? द्रोही है तो कोर्ट-मार्शल होगा।"

"द्रोही नहीं, बल्कि कायर है। द्रोह करने के लिए भी हिम्मत चाहिए।"

"कायरको भी कोर्ट-मार्शलसे प्राणदण्ड मिलेगा।"

"अब तक हम उसे कितना अच्छा समझते थे !"

एक वृद्धने, जो अब तक चुपचाप तमाखू चबा रहा था,

उसे थूककर कहा—“भई, तुम लोग चाहे जो कहो, मुझे तो उस पर विश्वास है। इतना सीधा, इतना सदय, दूसरों का भला करनेवाला और त्यागी आदमी द्रोही हो सकता है, यह मेरा मन नहीं मानता। तुम्हे याद है, महामारीमें उसने कैसे गाँवमें रहकर दिन-रात सेवा की थी ? कहाँ-कहाँ से डाक्टर बुलाए थे, दवाइयाँ मँगाई थीं ? जिस दिन मेरा लड़का बीमार हुआ,”—कहते-कहते वृद्धकी आँखें डबडबा आईं—“उस दिन सारी रात वह उसके पास बैठा रहा। मैंने कई बार कहा, अब चले जाओ, सोओ; पर नहीं माना। हमींसे कहता रहा, तुम थके हुए हो. थोड़ा आराम कर लो, कल अच्छा हो जायगा; पर बेचारेको अच्छा ही नहीं होना था !” कुछ रुककर फिर—“और अब तक भी, हमें जिस चीज़की ज़रूरत होती है, उसी के पास जाते हैं कि नहीं ? तुम चाहे जो कहो, मैं तो यही कहूँगा कि उसका नाम जिसने अकलंक रखा, ठीक रखा। वह ईसाई है, तो क्या हुआ ? मैं तो उसे हमेशा अकलंक कहूँगा।”

एक युवक बोला—“दादा, इतने जोशमें न आओ। वह हमारी भलाइयाँ तो करता रहा है; लेकिन क्या इससे उसको कीर्ति नहीं मिलती ? और फिर जो भीरु होते हैं, वे प्रायः अच्छे ही जान पड़ते हैं, क्योंकि उनमें बुरा करने की हिम्मत ही नहीं होती !”

विषय ऐसा था कि प्रातःकाल होने तक समाप्त न होता; पर एकाएक कुछ दूरपर से एक स्त्रीके चीखनेका स्वर आया।

लोग चौंककर चुप हो गए, दो-तीनने पुकारकर पूछा—"क्या हुआ?"

किन्तु यह प्रश्न व्यर्थ था, इसका कोई उत्तर भी नहीं मिला। एक विधवाकी लड़की पाँच-छः दिनसे न्युमोनियासे पीड़ित थी, वह इस घोर शीत को नहीं सह सकी—एक ही हिचकीके झटकेसे वह इस लोकके बन्धन तोड़कर चली गई थी। उसीकी माता रो रही थी।

लोगोंका साहस टूटनेके बहुत निकट पहुँच गया। उन्हे एकाएक अपने जीवनकी क्षुद्रता और असारताका बोध हो आया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि कोई अदृश्य, भैरव और निर्दय अनिष्ट उनके सिरपर मँडरा रहा हो। उस अमानुषी शक्तिकी उपस्थितिके ज्ञानसे सब एकाएक स्तब्ध होकर एक दूसरेका मुख देखने लगे; किन्तु कोई किसीसे आँख नही मिलाता था, मानो इसी आशंकासे कि जो भय उनकी आँखोंमें था, उसीकी प्रतिच्छाया दूसरेकी आँखोंमें न दीख जाय।

एकाएक दूर पर घोड़ो की टाप सुन पड़ी—कभी भूमिपर पड़ती हुई कठोर टटटप्! टटटप्! टटटप्! फिर कुछ देरके लिए कीच-पानीमें छिप्-शश्! छिप्-शश्!

किसी ने कहा—"क्रिस्टाबेल लौट आई!"

"लेकिन यह तो दो-तीन घोड़ोंका स्वर है।"

इस समस्याका हल अपने-आप हो गया। घोड़े उसी मैदान

के सिरेपर आकर रुक गए। दो घोड़ोपर बरसातीसे बँधे हुए बोझ लदे थे, तीसरे पर सवार था।

सवार ने उस रोती हुई वृद्धा से पूछा—"क्या हुआ?" स्वर मार्टिन का था।

वृद्धा ने कोई उत्तर नहीं दिया, और भी ज़ोर से रोने लगी।

मार्टिन घोड़ेपर से उतर पड़ा, देखकर स्थिति समझ गया। सकरुण स्वरसे बोला—"माई, तुम मेरे घर चलो न?"

"घर? घर कहाँ है? सब तो डूब गए।"

"मेरा घर बाक़ी है।"

"तुम कौन हो?"

पास बैठे हुए एक युवकने तिरस्कारपूर्ण स्वरमे ज़ोरसे कहा—"ये है अकलंक, हमारे गाँव के रक्षक!"

मार्टिन चौंका। एक बार उसने चारो ओर देखा। फिर उसे कुछ याद आ गया। जिस घोर प्रयाससे उसने अपनेको वशमें किया, उसके लक्षण उसके मुखपर स्पष्ट दीखते थे। फिर वह सबकी ओर उन्मुख होकर बोला—"तुम सब चाहो, तो मेरे घर चलकर रहो। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।"

कोई उत्तर नहीं मिला।

मार्टिन फिर कुछ काँपते-से स्वरमे बोला—"माई, तुम तो चली चलो। शायद मै इस लड़कीकी कुछ दवा-दारू कर सकूँ?"

"जब कोई नही जाता, तब मैं भी सब सह लूँगी। लड़की तो अब मर चुकी। मैं कायर नही हूँ।"

मार्टिनने सिर झुका लिया। घोड़ेकी लगाम पकड़कर धीरे-धीरे आगे चल दिया, कुछ बोल नहीं सका।

पीछेसे हँसीकी—तिरस्कारपूर्ण हँसीकी—ध्वनि आई। दो-तीन स्वरोंने एक साथ ही कहा—"अकलंक! कायर!"

३

घरके आगे पहुँचकर मार्टिनने स्वयं ही घोड़ोपर से बोझ उतारा और एक-एक को उठाकर भीतर ले गया। उसके पैरों के शब्द सुनकर जो नौकर देखने आया था, वह चुपचाप खड़ा देखता रहा, उसे इतना साहस भी नहीं हुआ कि आगे बढ़कर सामान उठानेकी चेष्टा करे।

मार्टिनने स्वयं ही उससे कहा—"घोड़ोको ले जाओ।" तब एकाएक बिजलीसे संजीवित व्यक्तिकी तरह वह बाहर दौड़ पड़ा।

मार्टिनने सब दरवाज़े बन्द कर लिए और एक कोनेमें पड़ी हुई कुदाली और फावड़ा निकालकर खोदने लगा। कमरेके मध्य मे जब वह काफी बड़ा गड्ढा खोद चुका, तब उसने एक बार कमर सीधी की और फिर घोड़ों पर के दोनों बोझ उसमें डाल दिए। फिर उसने अपनी कमर पर लिपटी हुई बहुत लम्बी एक रस्सी-सी खोली, और उसका एक छोर उन गट्ठरों के भीतर रख दिया। इसके बाद उसने गड्ढेको पूर्ववत् भर दिया, और वहाँसे किवाड़ तक, और किवाड़के बाहर बहुत दूर तक, एक नाली-सी खोदकर उसमें रस्सी दबा दी। जब वह घरसे लगभग

साठ गज़ दूर पहुँचा, तब रस्सी समाप्त हो गई। उसने यहाँपर उसका सिर बाहर रखके उसपर कुछ सड़े पत्तों और लकड़ियोंका छोटा-सा ढेर लगा दिया। फिर वह घरके भीतर आया और किवाड़ बन्द करके बैठकर न-जाने क्या-क्या सोचने लगा।

४

सवेरा नहीं हुआ था। उषा भी नहीं हुई थी; किन्तु फिर भी रात्रिके अन्धकारके रंगमें कुछ परिवर्तन हो गया था—वह कुछ भूरा-सा हो गया था। इससे अनुमान किया जा सकता था कि सूर्योदयमें कुछ ही देर थी। वर्षा अभी होती जा रही थी।

मैदानमें बैठे हुए लोग सो नहीं पाए थे। वे अशान्ति और औत्सुक्यसे क्रिस्टावेलकी प्रतीक्षा कर रहे थे। क्रिस्टावेल शाम ही से दूसरे गाँवसे घोड़े लाने गई थी, जो कि उन लोगोंको ले जानेवाले थे।

उग्र प्रतीक्षा सदा ही फलीभूत होती है। एकाएक किसीने चिल्लाकर कहा—"प्रजातन्त्रकी जय! क्रिस्टावेल आ गई है!"

बहुतसे लोग उठ खड़े हुए। क्रिस्टावेल घोड़ेसे उतरकर नीचे बैठ गई और बोली—"मैं कितनी थक गई हूँ!" फिर चारों ओर देखकर बोली—"चलो, अब देर क्या है?"

"कुछ नहीं। एक बुढ़ियाकी लड़की—"

"हाँ, मैंने सुना। वे अभी लौट आएँगे—तुम लोग तैयार हो लो।"

किसीने पूछा—"और मार्टिनका क्या होगा?"

क्रिस्टाबेलका मुँह लाल हो आया। फिर वह रुककर बोली—“क्यों, उसका क्या होना है ?”

“वह तो हमारे विरुद्ध जा रहा है।”

“क्यों ?”

“अपना घर बचा रहा है—और कल कुछ रसद भी ले आया है। मालूम होता है, यही रहेगा।”

क्रिस्टाबेल कुछ देर चुप रही। फिर बोली—“तुम लोग चल पड़ो, मैं अभी आती हूँ। मुझे एक नया घोड़ा दे दो।”

दूसरा घोड़ा लेकर वह मार्टिनके घरकी ओर चल पड़ी। मैदानमे बैठे हुए लोग तत्परतासे घोड़े लादने लगे।

मार्टिन अपने घरके बाहर ही टहल रहा था। क्रिस्टाबेलको आते देखकर रुक गया और एकटक उसकी ओर देखने लगा।

क्रिस्टाबेलने बिना भूमिकाके कहा—“मार्टिन, यह क्या सुनती हूँ ?”

“यही सुना होगा कि अकलंक अब कलंकी हो गया है ?”

क्रिस्टाबेल यह प्रश्न सुनकर सहम गई और सहसा कुछ कह नही सकी।

मार्टिनने स्वयं ही फिर कहा—“क्रिस्टाबेल, मैं तुम्हें कह चुका हूँ कि मै देशका भला सोच रहा हूँ। सारा गाँव मेरे विरुद्ध है, क्या तुम भो मेरा विश्वास नहीं कर सकती ?”

क्रिस्टाबेल बोली—“मैं क्या करूँ ? तुमने मुझे कोई कारण तो बताया नहीं ?”

"कारण बताने में विवश हूँ। पर क्या तुम इतना भी विश्वास नहीं कर सकती ?"

"मै तो विश्वास करती हूं, तुम स्वयं ही मुझसे कुछ छिपा रहे हो।"

"अगर कर्तव्य कोई बात छिपानेको कहे—"

"मेरे प्रति तुम्हारा क्या कोई कर्तव्य नहीं है ?"

"क्रिस, मुझे अधिक पीड़ित न करो। मैं विवश हूँ, इतना मान लो।"

क्रिस्टाबेल फिर बहुत देर तक चुप रही। फिर एक लम्बी सॉस लेकर मुँह फेरकर चल दी।

"कहाँ जा रही हो, क्रिस ?"

क्रिसने दबे हुए उद्वेगके स्वरमें उत्तर दिया—"कहीं नहीं, अपना कर्तव्य मुझे भी निश्चित करना है।"

"क्रिस, तुम नाराज़ हो गई—"

"यह प्रेमालापका समय नही है—"

"अगर मै कारण बता दूँ, तो विश्वास करोगी ?"

क्रिस एकाएक ठिठक गई और बोली—"क्या ?"

मार्टिन बहुत देर तक स्थिर दृष्टिसे उसके मुखकी ओर देखता रहा, कुछ बोला नहीं। फिर—"नहीं, विश्वास मोल नहीं लिया जाता। तुम जाओ !"

मार्टिनके हृदयकी उथल-पुथलको क्रिस्टाबेल नहीं समझ

पाई। क्रुद्ध सर्पिणीकी तरह घूमकर तीव्र गतिसे चल दी। मार्टिनने धीरेसे कहा—"अविश्वासिनी !"

उसके स्वरमें क्रोधकी अपेक्षा वेदना ही अधिक थी, इस बातको क्रिस्टाबेल नहीं समझ सकी। उसने क्षण-भरके लिए रुककर बिना मुख फेरे ही कहा—"कायर !"

जिस समय क्रिस्टाबेल मैदानपर पहुँची, तब लोगोंने देखा, उसकी आँखोंमे एक अमानुषी तेज था। उसने चुपचाप एक घोड़ा चुना और उछलकर चढ़ गई।

एक वृद्धने सहानुभूतिके स्वरमें पूछा—"क्रिस, कहाँ जाओगी ?"

क्रिस्टाबेलने बिना किसीकी ओर देखे ही उत्तर दिया—"यांगसिन, सेनापतिसे रिपोर्ट करने।"

"कैसी रिपोर्ट ?"

"वह कायर है, कायर !" कहते-कहते क्रिस्टाबेलने घोड़ेको एड़ दी और बात-की-बातमें बहुत दूर निकल गई। जब वह बिलकुल ओझल हो गई, तब लोगोंकी भाव-तरंगिनीको निकलनेकी राह मिली, एक ही गगनकम्पी हुंकारमें—"क्रिस्टाबेल की जय !"

५

जिस समय सैनिकोंका दल मार्टिनको बन्दी करने आया और किवाड़ बन्द पाकर खटकाने लगा, तब मार्टिन अपनी बन्दूक लेकर सामने आया और ललकारकर बोला—"क्या है ?"

किन्तु कहते-कहते उसने देखा, सैनिकोंके साथ क्रिस्टावेल भी है। उसे देखकर मार्टिनने बन्दूक आकाशकी ओर करके दाग़ दी और फिर ज़मीनपर पटक दी। बदले हुए स्वरमें फिर पूछा—"क्या है ?"

"हम तुम्हे वन्दी करने आए है—प्रजातन्त्रके नामपर।"

"किस अपराध के लिए ?"

"कायरता के लिए।"

"मुझे ?" कहकर मार्टिनने एक वार फिर क्रिस्टावेलकी ओर देखा ; पर उसने आँख नही मिलाई। मार्टिन वोला—"मैं तैयार हूँ, चलो ! मैंने हथियार डाल दिए हैं।"

सैनिकोने उसे वीचमें ले लिया। उनके नायकने क्रिस्टावेलसे पूछा—"आप कहाँ जाएँगी, हमारे साथ ही ?"

"नही, तुम जाओ। मुझे अपना काम है।"

सैनिक बन्दीको लेकर आगे वढ़ने लगे। जव वे कुछ दूर चले गए, तव क्रिस्टावेल एक हल्की-सी चीख़ मारकर कीचमें ही वैठ गई—"मार्टिन ! मार्टिन !"

पता नहीं, वन्दीने उसे सुना भी कि नहीं। उसके मुखका भाव ज़रा भी नही वदला। शायद सैनिकों के पद-रवमे वह डूव गई थी, वह करुण पुकार—"मार्टिन !"

६

"प्रहरी !"

"क्या है ?"

"एक बात सुनोगे ?"

"अगर प्रजातन्त्रके खिलाफ नहीं होगी, तो सुन लूँगा।"

"तो ज़रा पास सरक आओ।"

पहरेदार बन्दी के पास आ गया। बन्दीने कहा—"जानते हो, कल मेरा कोर्ट-मार्शल होना है।"

"हाँ, जानता हूँ।"

"शायद—अवश्य—प्राणदण्ड की आज्ञा होगी।"

"हाँ, यही सम्भावना है।"

"मेरा एक पत्र पहुँचा दोगे ?"

"किसे ?"

"स्त्री-सेनाकी एक वालंटियरको।"

"वह तुम्हारी कौन है ?"

मार्टिनने इसका उत्तर नही दिया। बोला—"मुझे अब फिर किसीसे मिलने या बोलने का अवसर नहीं मिलेगा, इसीसे कहता हूँ।"

पहरेदार ने कुछ सोचकर कहा—"काम तो सहज नहीं है। और फिर—"

"और क्या ?"

"मै तुम्हारी सहायता क्यों करूँ ? तुम तो—"

"कह दो न, रुक क्यो गए ?"

पहरेदार फिर चुप हो रहा। यह देखकर मार्टिन स्वयं ही बोला—"मैं कायर हूँ, देशका शत्रु हूँ, यही न ?"

पहरेदारने बिना कुछ कहे सिर झुका लिया। उसको यह अर्द्ध-व्यक्त स्वीकृति देखकर मार्टिन बोला—"मेरे पास इसका उत्तर नहीं है। तुम्हे क्या कहूँ ? अगर कहता हूँ कि मै कायर नहीं हूँ, तो तुम अपने मन में सोचोगे, सभी कायर ऐसा कहा करते हैं। इसलिए इतना ही कहूँगा, मै मनुष्य हूँ, मेरे हृदय है और अभिमान भी।"

मार्टिन थोड़ी देर प्रहरीकी ओर चुपचाप देखता रहा। फिर बोला—"ले जाओगे ?"

प्रहरीने धीरे से कहा—"हाँ, ड्यूटी बदलने से पहले दे देना।"

"मैने लिख रखा है। अभी ले लो, कोई नहीं देख रहा है।"

यह कहकर मार्टिनने शीघ्रतासे एक छोटा-सा पुर्जा सिपाही की ओर बढ़ा दिया। सिपाही ने उसे अपनी बन्दूक़ की नलीमें डाल लिया और बोला—"मैने तुम्हारा विश्वास किया है—देखना।"

मार्टिनने उत्तर नहीं दिया, एक बार उसकी ओर देख-भर दिया। उस दृष्टिमें न-जाने क्या था, उसे लक्ष्यकर प्रहरी चुप-चाप सिर झुकाए इधर-उधर घूमने लगा।

मार्टिन कोठरी के मध्य मे जाकर बैठ गया और छतके एक छोटे-से रोशनदान की ओर देखने लगा। एक बार चौंककर बोला—"हैं ? यह मैंने क्या किया ?" फिर थोड़ी देरके लिए चुप हो गया। फिर एक लम्बी साँस लेकर बोला—"विराट् प्रेमका अन्त भी विराट् होना चाहिए। मैं उसे अपनी व्यथा क्यो दिखाऊँ ?"

मार्टिन ऐसी प्रश्न-भरी मुद्रासे उस रोशनदानकी ओर देखने लगा, मानो उसीसे उत्तरकी प्रतीक्षा कर रहा हो।

७

मार्टिन के विशाल भवन के चारो ओर सैनिकोंका पहरा था; किन्तु सैनिक प्रजातन्त्रके नहीं थे। मकानके अन्दरसे गानेकी ध्वनि आ रही थी; किन्तु वे प्रजातन्त्रके राष्ट्र-गीतके स्वर नही थे। मार्टिनके भवनपर आज शत्रु-सेनाका अधिकार था, आज देशके सात सौ शत्रु उसमे आश्रय पा रहे थे और अधिकाधिक दक्षिणकी ओर बढ़नेके मन्सूबे बाँध रहे थे।

और भवनके बाहर चारों ओर पतली कीच थी। काली काली, केवल कहीं-कही भवनसे आनेवाले प्रकाश के कारण दीप्त ...

भवनसे दूरपर छोटे-छोटे पेड़ोंके झुरमुटमें क्रिस्टाबेल खड़ी थी। उसके पास ही एक पेड़से घोड़ा बँधा था। क्रिस्टाबेल एकाग्र दृष्टिसे भवनकी ओर देख रही थी; किन्तु ध्यानसे देखनेपर मालूम हो जाता था कि उसकी आँखें उधर लगी होने पर भी ध्यान उधर नही था।

भवनके अन्दर शायद कोई उत्सव हो रहा था—और इसी लिए कभी-कभी शायद अग्निकी उद्दीप्तिके कारण उसके अन्दर प्रकाश बढ़ जाता था। उस प्रकाशकी एक-आध झलक रात्रिके अन्धकारको भेदकर उस झुरमुट तक पहुँच जाती थी, तो उसमें क्रिस्टबेलका वह तना हुआ चेहरा और चमकती हुई आँखें—आँसूभरी आँखें—स्पष्ट दीख जाती थीं।

क्रिस्टाबेलने आप-ही-आप कहा—"आज [illegible] पूरा होगा ..और कल—मैं..."

रुककर वह फिर उस ससंज्ञ तन्द्रामें पड़ गई।

"मार्टिन...मेरा दुर्भाग्य .."

एकाएक मानो किसी दृढ़ निश्चयमें प्रेरित होकर उसने अपने शरीरको झटका दिया और भवनपर से आँखें हटा लीं। किन्तु तत्काल ही उसका शरीर जड़ हो गया, मानो कोई निष्क्रिय नागकी सम्मोहन दृष्टिसे निकलनेका व्यर्थ प्रयत्न करके थक गई हो।

वह फिर भवनकी ओर देखने लगी।

"ईसा, ईसा, अगर उसके दिलमें इतना साहस होता—अगर मेरे हाथोंमें इतनी शक्ति .."

एकाएक वह चौंकी। घोड़ेने भी चौंककर सिर उठाया और हवा सूँघने लगा।

क्रिस्टाबेल ने देखा, उसके आगे कुछ दूरपर एक आदमी धीरे-धीरे, चौकन्ना होकर, बढ़ रहा था। एकाएक वह एक स्थान पर रुका और ज़मीन टटोलकर बैठ गया। फिर उसने जेबमें से एक चकमक पत्थरका टुकड़ा निकालकर थोड़ी-सी घास सुलगाई और उसे भूमिपर रख दिया।

भूमिपर से धुआँ उठने लगा। थोड़ी देर बाद थोड़ा-सा 'छर्र-छर्र—' हुआ, जैसे बारूद जली हो, और उसके क्षणभंगुर प्रकाशमें क्रिस्टाबेलने देखा, वह व्यक्ति मार्टिनका चिर-परिचित था। उसके मुख पर एक विचित्र आनन्दमिश्रित विजयका भाव था।

क्रिस्टाबेलने धीरेसे पुकारा—"साइमन !"

वह व्यक्ति चौंका। उसने जेब से पिस्तौल निकाला और पेड़ो के झुरमुटकी ओर बढ़ा। जब वह पास आ गया, तब फिर क्रिस्टाबेल बोली—"साइमन, मैं हूँ, क्रिस्टाबेल।"

उस व्यक्तिने पिस्तौल छिपा लिया, और बोला—"तुम यहाँ कहाँ ?"

"और तुम ?"

"मैं कार्यवश आया था।"

"क्या कर रहे थे ?"

"ज़रा देर ठहरो, अभी जान जाओगी।" कहकर वह रुक कर चुपचाप भवन की ओर देखने लगा। क्रिस्टाबेल भी उधर देखती रही।

एकाएक क्रिस्टाबेलको प्रतीत हुआ, भूकम्प हो रहा है, उसके पैर लड़खड़ाए, घोड़ा भी एकाएक हिनहिनाया, वातावरण में मानो एकाएक घोर दबाव-सा पड़ा—क्रिस्टाबेलने आँखें बन्द कर लीं—

धड़ाक्—धम्म !

एकाएक बीसियों तोपोंका-सा स्वर हुआ। क्रिस्टाबेल का सिर भन्ना गया, कान बहरे हो गए। एक मिनट तक वह कुछ कर नहीं सकी। फिर उच्च स्वरमें बोली—"यह क्या है ?"

प्रश्न व्यर्थ था। धमाकेसे मार्टिनका विशाल भवन एकाएक भूतलसे उड़ गया था—और उसके छिन्न-भिन्न अवशेष न-जाने

कहाँ-कहाँ फैल गए थे। दो-चार टुकड़े उस झुरमुटसे कुछ ही दूरपर गिरे थे।

यही सब देखकर साइमनने क्रिस्टावेलको उत्तर नहीं दिया। बोला—"मैं तुम्हारी तलाशमें था।"

"क्यों?"

"एक पत्र है, मार्टिनका।"

"ऐं? तुमने कैसे पाया?"

"उसने किसी प्रहरीके हाथ भिजवाया था, वह मुझे दे गया।"

क्रिस्टावेलने प्रश्न-भरी दृष्टिसे उसकी ओर देखा, कुछ बोली नहीं। साइमनने उसका अभिप्राय समझकर कहा—"उसको प्राणदण्डकी आज्ञा हो गई।"

क्रिस्टावेल सिर झुकाकर खड़ी रही। साइमनने पत्र उसकी ओर बढ़ाया। उसने ले लिया। साइमनने दियासलाई जलाकर प्रकाश किया, क्रिस्टावेल पत्र पढ़ने लगी।

पत्र पढ़कर जब उसने साइमनकी ओर देखा, तब अभी तिरस्कार और विद्रूपका भाव उसकी आँखोंसे गया नहीं था। उसने पूछा—"अच्छा, यह बताओ, यह प्रबन्ध तुमने कब किया था?"

"यह प्रबन्ध मेरा नहीं, मार्टिनका था।"

"हैं?"

"वह क्रूमिन-टैंगकी गुप्त कार्यकारिणीका सदस्य था।

उसने बन्दी होनेसे पहले मुझे कहा था कि इस पलीतेमें आग लगा जाऊँ। मैं कल भी आया था; पर कल यह गीला था, जला नही।"

क्रिस्टाबेलके मुखसे एक शब्द भी नहीं निकला। वह बिजली-से ताड़ित लताकी तरह ज़मीनपर पड़ गई।

मिनट-भर बाद जब उसे होश आया, तब रोते स्वरसे बोली—"तुमने पहले नहीं कहा ? अगर मैं जानती—कल तक भी जानती होती "

इसके आगे उसका स्वर रोनेके आवेगमे अस्पष्ट हो गया।

साइमनने हिचकिचाते हुए स्वरमें कहा—"बहन, धैर्य धरो—"

क्रिस्टाबेल बिजलीकी तरह उठी और घोड़ेकी लगाम पेड़से खोलकर सवार हो ली। साइमनने पूछा—"कहाँ—कहाँ चली ?"

क्रिस्टाबेलने कोई उत्तर नही दिया, हाथका पत्र साइमनकी ओर फेंककर घोड़ा दौड़ाती हुई निकल गई।

जब साइमनका विस्मय कुछ कम हुआ, तब वह फिर दिया-सलाई जलाकर पत्र पढ़ने लगा—

'क्रिस्टाबेल, कल मुझे प्राणदण्ड हो जाएगा, इसलिए आज अन्तिम विदा ले रहा हूँ। हमारा विच्छेद तो उसी दिन हो गया था, जिस दिन तुम्हारा विश्वास उठ गया; किन्तु अभ्यासवश विदा माँग रहा हूँ।

'सुनो, क्रिस्टाबेल, जाते हुए एक बात कहे जाता हूँ। मै

कायर नहीं हूँ, इस बातका विश्वास मैं तुम्हें उसी समय दिला सकता था, जब तुमने पूछा था; पर तुम विश्वास नहीं कर सकीं। मुझे तुमसे विश्वासकी—सहज, स्वाभाविक, अटल विश्वासकी--आशा थी। यह आशा प्रत्येक मनुष्य करता है। तुम वैसा विश्वास नहीं दे सकीं। अगर प्रत्येक बातमें विश्वासका पात्र होनेके लिए प्रमाण देना पड़े, अगर तुम्हारा प्रेम प्राप्त करने के लिए नित्य ही यह दिखाना पड़े कि मैं उसका पात्र हूँ, तो ऐसे प्रेमका क्या मूल्य है? अगर तुम विश्वास-भर कर लेतीं!

'दो-एक दिनमें मैं नहीं रहूँगा। तब तक या उसके बाद--तुम्हें "प्रमाण" भी मिल जायँगे कि मैं कायर नहीं हूँ। इसीसे कहता हूँ, अगर अब तुम किसी से प्रेम करो, तो ऐसा व्यक्ति चुनना, जिसका तुम अकारण विश्वास कर सको। एक कायरसे इतनी ही शिक्षा ग्रहण कर लो!

'अब मेरे हृदय में शान्ति है। अपना हृदय टटोलकर देख लेना, उसमें क्या है।—मार्ट'

पत्र पढ़ चुकनेपर साइमनने एक लम्बी साँस ली और धीरे-धीरे एक ओरको चल दिया।

८

"अरे, तुम सबको क्या हो गया है? कहाँ पागलोंकी तरह भागे जा रहे हो?"

"तुम्हें नहीं मालूम? एक कायरको प्राणदण्ड मिल रहा है।"

"मार्टिनको ? उसका फैसला हो गया ?"

"कल ही।"

"क्या ? उसने कोई सफाई नहीं दी ?"

"नहीं। जब उससे पूछा गया, तब बोला, 'मैं सैनिक हूँ। सैनिक स्वभावतः विश्वासका पात्र होता है। मै सफाई देकर विश्वास मोल नही लेना चाहता।'"

"इतनी अकड़ ? मालूम होता है, कायरके भी कुछ दिल है।"

"अरे, अभी और सुनो। जब दण्ड सुनाया गया, तब जजोने उस क्रिस्टाबेलकी तरीफ़ भी की। इन दोनोंकी शादी होनेवाली थी। तब मार्टिन बोला—'हाँ, मेरी ओरसे भी बधाई भिजवा दीजिएगा।'"

"फिर ?"

"फिर बोला—'आपने मुझे कायर कहा है और प्राणदण्ड दिया है। प्रजातन्त्रके एक सैनिककी हैसियतसे मै दण्ड स्वीकार करता हूँ। पर एक प्रार्थना है कि दण्ड देते समय मुझे कायर की तरह पीठमें गोली न मारी जाय ! मै कायर नहीं हूँ !'"

"फिर ?"

"जजने पूछा—'इसका सबूत ?' पर बेचारा सबूत क्या देता ? चुप हो गया। जजने बहुत सोचकर कहा—'मैं विवश हूँ।' फिर क़ैदीको ले गए।"

भीड़को चीरता हुआ एक घोड़ा आगे आ रहा था, इन दोनों व्यक्तियोंके पीछे-पीछे चल रहा था। उसपर सवार एक स्त्री इस

चेष्टामें थी कि मौका मिलनेपर आगे निकल जाय। यह बातें सुनकर वह व्यथित, अर्ध-विक्षिप्त स्वरमें बोली—"अरे, यह सब मैं सुन चुकी हूँ—फिर क्यों दुहराते हो? बताओ, दण्ड होने मे कितनी देर है?"

दोनो व्यक्ति चुपचाप एक ओर हट गए और उसकी ओर देखने लगे। उसने अपना प्रश्न दुहराया।

"पन्द्रह-बीस मिनट होंगे—"

"बस?" कहकर क्रिस्टाबेलने घोड़ेको चाबुक मारा। चाबुक से अनभ्यस्त, थके-माँदे किन्तु अभिमानी, घोड़ेने सिर उठाकर फुँफकारा और फिर तिलमिलाकर भीड़को चीरता हुआ दौड़ने लगा। किसको धक्का लगता है, कौन गिरता है, अपने अपमानमें वह सब भूल गया।

दोनो व्यक्तियोंने एक दूसरेकी ओर देखकर कहा—"पूरी दानवी है!" और फिर आगे बढ़ने लगे।

९

उस चौकके आसपास तीनो ओर खचाखच भीड़ भरी हुई थी। चौथी ओर, दीवारकी छायामें, एक शहतीर ज़मीनमें गड़ा हुआ खड़ा था, जिसके साथ सैनिक मार्टिनको बाँध रहे थे। उसे शहतीरके साथ सटाकर, मुँह दीवारकी ओर करके खड़ा कर दिया गया था। मार्टिन चुपचाप निष्क्रिय होकर देखता जाता था, मानो वह इस अभिनयका प्रधान पात्र न होकर एक दर्शकमात्र हो।

भीड़ इस क्रियाको देखती जाती थी और आलोचना करती जाती थी—"कैसा मरियल-सा खड़ा है—जैसे अफीम खा ली हो !"

"अरे, कायरको हौसला थोड़े ही होता है ?"

"कल तो बड़ी शानसे खड़ा था—जजको भी घुड़की देता था !"

"अरे, जब तक मौत सिर पर नहीं आती, तब तक गीदड़ भी घुड़कियाँ दिखाते हैं। पता तो जब चलता है, जब सामना होता है।"

भीड़ की आलोचना सदा बड़ी पैनी और विषाक्त होती है ; पर मार्टिनपर उसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। शायद इसी से आलोचना प्रखरतर होती जा रही थी।

थोड़ी ही देरमें बाँधनेकी क्रिया पूरी हो गई। सैनिक वहाँ से हट गए।

इस शहतीरसे पचास क़दमकी दूरीपर सैनिकोंकी एक कतार खड़ी थी, और उनसे कुछ हटकर एक सैनिक अफ़सर, जिसके आदेशानुसार सब काम हो रहा था। उसने एक बार चारों ओर देखा, भीड़के एक अंशको पीछे हटनेका इशारा किया, फिर सावधान होकर सैनिक-पंक्तिको आदेश देने लगा।

उसके आदेशोंसे प्रेरित सैनिकोंने बन्दूक़ोंके कुन्दे अपने कन्धोंपर टेके, निशाने साधे और तैयार होकर खड़े हो गए।

अफ़सर अपनी घड़ीकी ओर देखने लगा।

एकाएक चौकसे कुछ दूरपर, पक्की सड़कपर, घोड़ेकी टाप—सरपट दौड़की टाप—सुन पड़ी।

किसीने कहा—"वह क़ैदीका क्षमा-पत्र आ रहा होगा।"

तत्काल ही किसीने फटकार दिया—"चुप रहो।"

भीड़ को चीरता हुआ एक घोड़ा निकला, और सवार स्त्रीने एकाएक लगाम खींची। घोड़ा अफ़सरके बिलकुल पास आकर रुका। स्त्री क्षण-भर मुग्धवत् देखती रही। भीड़ने उसकी ओर देखा और एक ही स्वरमें—दबे स्वरमें—बोली—"दानवी!"

अफ़सर ने घड़ीसे आँख हटाते हुए कहा—"Aim! (निशाना साधो!)"

क्रिस्टावेल चौंकी और लड़खड़ाते हुए घोड़ेपर से कूदकर अफ़सर की ओर दौड़ी।

अफ़सर ने दृढ़ स्वरमें कहा—"Fire! (दागो!)"

लोगो की आँखें क्रिस्टावेलसे हटकर मार्टिनपर जा जमीं—उस क्षणिक, गम्भीर, औत्सुक्यपूर्ण प्रकम्पित महाशान्तिमे एक स्त्री-स्वर गूँज उठा—"उसे बचाओ—अकलंक! अकलंक!"

फिर एकाएक बारह बन्दूक़ोके नादमें वह स्वर डूब गया—क्रिस्टावेल लड़खड़ाने लगी—सैनिक मार्टिनकी ओर दौड़े—किसी ने कहा—"वह देखो!"

लोगो ने देखा, जिन रस्सियोंसे मार्टिन बाँधा गया था, वे टूट गई थी। मार्टिन दीवार की ओर पैर किए औंधे मुँह पड़ा था। भीड़को एकाएक मानो खोई हुई वाणी मिल गई।

"यह कब हुआ ?"

"उसकी चीख़ सुनकर ही। मैं देख रहा था, वह चौंका, फिर झटका देकर घूम गया।"

"मैंने भी देखा था। वह ख़ुद भी चिल्लाया था—"

"क्या ?"

" 'क्राइस्ट' !"

"नहीं, 'क्रिस्टाबेल' !"

"हाँ, हाँ, 'क्रिस्टाबेल' ही !"

सैनिकोंने जब आकर मार्टिनके शव को उठाया, तब उनके मुँहपर आदरका भाव था। एकने कहा—"यह देखो, सभी गोलियाँ छाती में लगी हैं।"

लोग मार्टिनके शवको देखने और उसकी आलोचना करनेमें इतने लीन हो गए कि बेचारी क्रिस्टाबेल—हाथमें एक प्रजातन्त्रकी मोहरवाला काग़ज़ लिए खड़ी क्रिस्टाबेल—की ओर किसीका ध्यान ही नहीं गया। वह एक बड़ी लम्बी, बड़ी थकी हुई, बड़ी उत्सर्गपूर्ण-सी साँस लेकर गिरते-गिरते बोली—"अकलंक !"

—

दुःख और तितलियां

उन्हीं दो तितलियों को

डलहौज़ी

अगस्त, १९३४

शेखर उस पहाड़ी रास्तेसे उतरता हुआ चला जा रहा था। उसके कदम अपनी अभ्यस्त साधारण गतिसे पड़ रहे थे, वह किसी प्रकारकी जल्दी नही कर रहा था। क्योंकि यद्यपि वह अपने मनमें उसे स्वीकार नहीं कर रहा था, तथापि उसके बहुत भीतर कहीं, उसकी आत्माके छिपे-से-छिपे स्तरमें लिपटी हुई कहीं, इस बात की पूर्ण अनुभूति थी कि वह व्यर्थ जा रहा है, कि उसकी माँ तो मर चुकी है, कि अब डाक्टर आकर कुछ नहीं कर सकता—सिवाय इसके कि एक क्रियाको, जो पूर्ण हो चुकी है, अपने विशेष ज्ञान द्वारा एक और पूर्णत्व, finality दे दे; एक विशिष्ट महत्व, जिसे जानकर वे सब—शेखर, शेखरके पिता, शेखरके भाई—रो पड़ें!

और वह सोच रहा था कि हमारे सुन्दर घर की इकाई छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जायगी—क्यों? उसका अवश मन भाग-भाग जाता था भूतकी ओर—उसके भाई-बहनोंके बाल्यकाल की ओर, बहुत पूर्व आबाद किए हुए घरों और स्थानोंकी ओर, पुराने मकानोंकी ओर, पुराने फर्निचरकी ओर, भूले हुए चित्रोंकी ओर ..और वह इन सब विचारोंसे लदा हुआ भी, बिना किसी प्रकारकी व्यस्तता या जल्दीके, अपनी अभ्यस्त साधारण गति से चला जा रहा था उस पहाड़ी रास्तेसे उतरता हुआ ...

एकाएक वह रास्तेके मध्यमें रुककर खड़ा हो गया, और एक तीखी whisper में बोला, "वह मर गई है ..." फिर दो-चार कदम चला और फिर रुक गया।

कौन मर गई है ?

माँ। माँ मर गई है। माँ। माँ मर गई है ..

मर गई है। क्या अभिप्राय है इसका—मर गई है ?

कोई अभिप्राय नहीं है। कोई अर्थ नही है। कुछ नहीं है। कुछ परवाह नही है...

और शेखर फिर उसी गतिसे चल पड़ा।

× × × ×

पता नही, उसने डाक्टरसे क्या कहा। या कैसे कहा। पर कुछ कहा जरूर, क्योंकि डाक्टरने अमोनिया, ब्राण्डी, इञ्जेक्शन के लिए एड्रिनलिन और अन्य दवाइयाँ, जो हार्ट-फेल्यर में दी जाती है, निकालकर उसे देकर और इञ्जेक्शनकी पिचकारी अपनी जेबमें रखते हुए पूछा था, "कितनी दूर है ?" और उसका उत्तर, "तीन मील है—और चढ़ाई में," सुनकर कहा था, "देर हो जायगी—यहाँ पहाड़ोंमें यही तो मुश्किल है।"

वे दोनो उसी रास्तेपर वापस चढ़े जा रहे थे। शेखरकी अभ्यस्त गतिसे भी धीरे, क्योंकि वयस्क डाक्टर धीरे चलता था।

शेखरकी डाक्टरसे जितनी वात चलनेसे पहले हो गई थी, उतनी ही होकर रह गई थी, उससे अधिक कुछ नहीं हुई। वे

बिलकुल चुपचाप चढ़े जा रहे थे। और किसी समय ऐसे जाना अशिष्टता होती ; किन्तु इस समय चुप रहनेके लिए यही कारण पर्याप्त था कि चढ़ाईमें साँस फूल जाती है, बोलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है।

पर शेखर बोल नहीं रहा था, इसलिए सोच भी नहीं रहा हो, यह बात नहीं थी। वह सदाकी अपेक्षा अधिक एकाग्रतासे सोच रहा था, जिस घटनाने उसे विभिन्न विषयोंपर विचार करनेमें असमर्थ कर दिया था, वहीं उसे एक विषय-विशेषपर अपनी सारी शक्ति लगाकर अत्यन्त उग्र-अनुभूतिपूर्ण विचार करनेको बाध्य कर रही थी।

वह सोच रहा था, वह घटना कैसे हुई—पहले-पहल उसे उसका क्या संकेत मिला...

उसे याद आया, वह अपने कमरेमें बैठा एक पत्र पढ़ रहा था—अपनी विधवा बहन का पत्र, जो उसी समय आया था। उसे वह वाक्य भी याद आया, जिसे पढ़ते-पढ़ते उसने अपने पिताकी अत्यन्त करुण और विवश करनेवाली पुकार सुनी थी—"शेखर, देख तो!" वह वाक्य पता नहीं क्यों उसकी बहनने उसी पत्रमें लिखा था ; पता नहीं क्यों वह पत्र उसी समय आया था ; पता नहीं क्यों वह उस समय वही वाक्य पढ़ रहा था, जो अब इतना अभिप्रायपूर्ण हो गया है...

'हमारे वंशमें एक परम्परा है कि हममें बहनें प्रायः निस्संतान होती थीं, और इसलिए अपने छोटे भाइयोंको गोद ले लेती थीं।

और मैं सोचती हूँ कि बहन जब माँ बनती है, तब माँ से कितनी अधिक हो जाती है...

क्यों नहीं उसे उसी समय ध्यान आया था कि—कि अब कौन बनेगी उसकी माँ! वह दौड़ा हुआ उस कमरेमें गया था जहाँ उसकी माँ कई दिनोंसे शय्याग्रस्त पड़ी थी, और जहाँ उस समय उसके पिता एक विचित्र मुद्रासे अपने सामने पड़े हुए एक क्षीण, मुरझाए हुए और किसी अवाक् पीड़ासे इधर-उधर सिर पटकते हुए वयस्क शरीरको देख रहे थे...शेखरके पहुँचते ही उन्होंने एक प्रश्न-भरी दृष्टिसे उसकी ओर देखा। शेखर उसका उत्तर नहीं दे सका। उसने नाड़ीकी गति देखी। श्वासकी गति देखी। आँखोंकी पलकें उठाकर देखा। चुप रहा।

पिताने पूछा—"क्या हुआ है?"

विवश कुछ कहना ही पड़ा—"कोलैप्स है!"

"फिर?"

उत्तरमें शेखरने ब्राण्डीकी बोतल उठाई, थोड़ी-सी एक काँचके गिलासमें डाली और हाथसे मुँह खोलकर उसमें डाल दी।

वह गलेसे उतरी नहीं, एक निरर्थक-सी धारा मे ओठोंसे बह गई।

एकाएक माँने फिर आँखे खोलीं। गर्दन फेरकर पतिकी ओर देखनेकी चेष्टा करने लगी। गर्दन अधिक नहीं घूमी, तो आँखें फिराकर पति के मुख की ओर देखने लगी—स्थिर, अपलक और किस उग्र अभिप्राय-भरी दृष्टि से!

पिताने टूटती-सी आवाज़में पूछा—"क्या, कहो, क्या होता है ?"

शरीर वैसा ही स्थिर, किन्तु एक जड़ता लिए हुए। आँखें उधर ही उन्मुख, स्थिर, अपलक। पर अब चिर-अपलक ! उस अभिप्रायसे शून्य !

शेखरने दबे पाँव बढ़कर पास पड़ी टार्च उठाई, आँखोंमें उसका प्रकाश छोड़कर पुतली देखी। वह भी शून्य। रिक्त।

ये सब घटनाएँ, सब दृश्य एक-एक करके शेखरके आगेसे हो गए—ऐसे, जैसे उसके सामनेके पथपर ही, किसी दीप्त रङ्गराशि से वे चित्रवत् खींच दिए गए हों ..

डाक्टर ने पूछा, "उनकी आयु कितनी है ?"

"कोई पचास।"

"हूँ।"

चुप।

शेखर फिर वहीं पहुँच गया। उसके पिताने पूछा था, "क्या—" और चुप रह गए थे। और वह किस मुखसे उत्तर देता कि क्या...

पिताने मुँह फेर लिया। शेखरने जल्दीसे हाथ बढ़ाकर माँकी पलकें दाबकर बन्द कर दीं; किन्तु वे फिर खुल गईं—पहले-सी नहीं, अधखुली रह गईं।

शेखरने पूछा, "डाक्टरको बुला लाऊँ ?"

"अच्छा।"

जिस प्रकार प्रश्नमे आशा या निराशा कुछ भी व्यक्त नहीं की गई थी, उसी प्रकार उत्तर भी पूर्ण नीरस वाणीसे दिया गया था। इतनी नीरस कि शेखर सोचने लगा, 'क्या ये भी जान गए है और मुझसे छिपाना चाहते है, या अभी अनभिज्ञ हैं . . .'

वह उस कमरेसे निकला, तो किसी आशङ्कित भावसे नहीं; उसने कोई इङ्गित नहीं दिया कि—कि क्या हो गया है। केवल उस साधारण शीघ्रतासे, जिससे डाक्टरको बुलाने जाना चाहिए...

जब शेखर अपने पुकारे जानेसे लेकर डाक्टरको बुलानेके लिए निकल पड़ने तक सब घटनाओं को देख चुका, तब उसका मन कुछ क्षणके लिए रुक गया। वह बिलकुल शून्य दृष्टिसे पथ की और देखता हुआ चलता रहा।

उस दिन सवेरे वर्षा होकर हटी थी। शेखरने देखा, पथपर अनेको फिलें(snails), अपनी पीठपर अपनी ऐहिक सम्पत्ति, अपना घर लादे हुए अपनी लेसदार मूँछो से पथ टटोलती हुई मंथर-गति से चली जा रही है; जब शेखर गया था, तब भी वे ऐसे ही चली जा रही थी; किन्तु तब उनकी कोई छाप शेखरके मनपर नही बैठी थी। अब इन्हे देखकर उसे याद आया, वह तब भी इन्हे देख गया था।

चलते-चलते शेखरने देखा, एक फिल डाक्टर के पैरके नीचे आकर कुचल गई है—डाक्टर सामने देखता हुआ चल रहा था और शेखर भूमिकी ओर। तब शेखरने यह भी देखा, पथमें अनेक स्थलोपर वैसी अनेक दुर्घटनाएँ हो चुकी है, अनेक स्थलोंपर एक

ग्लानि-जनक कीच-सी पड़ी है, जो थोड़ी ही देर पहले एक प्राणी थी—एक प्राणी ही नहीं, एक समूची गृहस्थी, क्योंकि उनका घोंघा-रूपी घर भी तो पीठपर ही लदा होता है !

शेखर फिर एकाएक रुक गया। उसे ऐसा लगा कि वह कुछ सोचनेके लिए रुका है, एक विचार उसके मनमें उठने ही वाला है। किन्तु वह उठा नहीं। शेखरने अपने-आपसे पूछा, 'क्या सोचने लगे थे ?' और उत्तर न पाकर, अपने ही पर एक नीरस हँसी हँसकर, वह फिर चल पड़ा।

और चलते-चलते उसे विचार आया, हम व्यर्थ ही मृत्यु को इतना तूल देते हैं...

२

पर घरसे कुछ दूर पहुँचकर ही उसे जान पड़ा, वह भूल है। मृत्युमें एक भयङ्कर finality है, जो क्षुद्र हो ही नहीं सकती, जो एक व्यक्तिके जीवनसे सम्बद्ध होकर भी व्यापक रूपसे सर्वत्र छाई है। उसे लगा, घर के वातावरणमें ही कुछ बदल गया है, एक भीमकाय, दैत्य-सा आकार, झूम-झूम कर फुङ्कार कर रहा है ; किन्तु वह फुङ्कार है शीतल और बिलकुल शब्दहीन, और इसलिए और भी भयङ्कर !

क्या यह एक 'सब्जेक्टिव' भावना-मात्र है ? उसके दुःख-जनित मोह से उत्पन्न ? किन्तु वह तो इस घटनाको बिल्कुल 'ऑब्जेक्टिव' दृष्टि से देख रहा है, उसे तो यह जान ही नहीं पड़ता कि वह किसी प्रकारकी पीड़ाका अनुभव कर रहा है ! वह तो

मानो सम्पूर्णतया असंलग्न, निरीह होकर इसकी आलोचना कर रहा है।

उसने दबे पाँव भीतर पैर रखा।

आँगनमें कोई नहीं था।

पहले कमरेमें भी कोई नहीं था।

कहीं कोई दीख भी नहीं पड़ता था।

शेखरने चाहा, किसीको पुकारूँ, ताकि सूचना हो जाय कि डाक्टर साहब आ गए है; पर उससे पुकारा नहीं गया।

तीसरे कमरेमें शेखरका भाई रत्न खड़ा था; पर उसने शेखरसे आँख नहीं मिलाई, हिला भी नहीं।

शेखर और डाक्टर 'उस'के साथवाले कमरेमें पहुँचे। वहाँ पिता खड़े थे। देखते ही उन्होंने अंगरेजीमें कहा, "यू आर टू लेट! (आप बहुत देर से आए हैं।)"

उस नीरस वाणीको सुनकर शेखरके मन में भाव उठा कि उसके पिता अंगरेजी इसलिए बोले है कि एक विदेशी भाषामें अपने भावको छिपा लेना अधिक सहल है। अपनी भाषाका अपनापन हमें अपना हृदय खोल देनेको खाहमखाह विवश कर देता है। और साथ ही उसे विस्मय भी हुआ कि वह कैसे इस समय भी ऐसी बातें सोच सकता है।

पिताके मूक सङ्केतकी अनुमतिसे डाक्टर उस कमरेकी ओर बढ़ा—शेखर पीछे-पीछे। वहाँ 'वह', जो शेखरकी माँ था,

एक रज़ाईसे पूर्णतया ढँपा हुआ पड़ा था। डाक्टरने मुँहपर से रज़ाई हटाई और तुरत फिर रख दी।

पिता दूर ही से देख रहे थे। बोले, "हूँ "

थोड़ी देर एक बोझल-सा मौन रहा। फिर डाक्टरने कहा, "कारण हार्ट-फेल्यर ही रहा होगा। इन्हे तपेदिक था और उसमें—"

पिताने कहा, "नही, तपेदिक नहीं था—"

डाक्टरने शेखरकी ओर इशारा करते हुए कहा, "मुझसे यह कह रहे थे—"

"नही, पहले वह ख़्याल था, किन्तु बाद का डायग्नोसिस (निदान) उसके विरुद्ध था।" फिर एकाएक बिखरते हुए-से स्वर में, "पर इससे अब क्या—मृत्यु मृत्यु है..."

थोड़ी देर फिर स्तब्धता। शेखरने चुपचाप दवाइयाँ इत्यादि डाक्टरको दे दी। डाक्टरने शेखरके पिताकी ओर देखते हुए, कुछ झिझकते हुए कहा, "मैं अत्यन्त दुखी हूँ। आप—" और चुप रह गया। क्षण-भर बाद वह चला गया। फीस उसने नहीं ली।

शेखर उसे दरवाज़े तक छोड़कर लौटा, तो जिस कमरेमें पिता बैठे थे, उसके दरवाजेपर आकर खड़ा रहा। बहुत देर खड़ा रहा। तब एकाएक पिता उसकी ओर देख कर बोले, "खड़े क्यो हो, जाओ, कुछ करो।" फिर कुछ अधिक कठोर, कुछ चिड़चिड़े-से स्वर में, "अब क्या फायदा है। अब लौटकर थोड़े

ही आएगी। वह तो गई अब। वह तो मर गई। अब क्या। वह तो मर गई..." और दृढ़, ललकार-भरी-सी चाँपसे, मानो पृथ्वी को दबाते हुए, ऊपर जानेके लिए सीढ़ियाँ चढ़ने लगे।

और पिताके वाक्यों मे 'मर' शब्दपर दिया हुआ जोर बार-बार उसके मनमें गूँजने लगा। मानो उसके हतसंज्ञ मस्तिष्क पर मृत्युकी अगाध, अबाध finality की छाप बिठा देनेका व्यर्थ प्रयत्न करता हुआ।

३

घाटीपर उतरकर, उसकी तलहटीके छोर पर ही, एक छोटा-सा पत्थरोंसे चुना हुआ चबूतरा। ऊपर छिड़का हुआ पानी। उससे ऊपर, लकड़ीसे चुना हुआ एक और चौकोर स्तूप, जिसमें लकड़ी के भीतरसे लाल और श्वेत वस्त्रोंकी झाँकी मिल जाती है। पास मे पड़ा हुआ मटका-भर पानी, और एक बड़े से थालमें हवन-सामग्री।

कुछ दूरपर शेखरके पिता, भाई और कई-एक लोग। दूसरी ओर शेखर अकेला।

उसके बाद एक तन्द्रा। एक गतिमान तन्द्रा, जिसमें कोई भी निश्चल नहीं बैठता, सभी कुछ-न-कुछ करते जाते हैं; पर कोई जानता नहीं कि क्या हो रहा है।

केवल जब चिता जलने लगी, तब मन्त्रोच्चार के साथ-साथ एक लम्बे हत्थेवाले स्रुवासे उसमें घीकी आहुति डालते हुए शेखरको याद आया, जब चिता चुनी जा रही थी, सारा शरीर

ढका जा चुका था। केवल मुख ढकना बाकी रह गया था, तब उसके पिताने एकाएक आकर कहा था, "एक फोटो ले लेते—" पर सब ओरसे मौन पाकर, स्वयं भी कुछ देर मौन रहकर प्रश्न-सूचक आवाज़में पूछा था कि क्या करना है तब शेखरने दबे स्वरमें कहा था, "क्या करना है .." यद्यपि स्वयं उसे भी यह विचार हुआ था कि फोटो ले लेना चाहिए। तब पिताने धीरे से एक लज्जित-सी हँसी हँसकर, मानो अपनी कोई कमज़ोरी प्रकट करते हुए लज्जित हों पर रह भी न सकते हों, कहा था, "मुख तो देखूँगा ज़रूर .."

पता नहीं, वह वैसे क्यों हुआ कि बहुत कोशिश करने पर भी कपड़ा नहीं हट सका। ऊपर जो सूत्र लपेटा गया था, वह खोला गया; पर कपड़ा कहीं लकड़ीमें अटक गया था, नहीं छूटा, नहीं छूटा। पिता ने फिर एक हँसी—किस-किस कुछको 'हँसी' कहा जा सकता है!—हँसकर उसे छोड़ दिया और पीछे हट गए।

शेखर सोचने लगा कि उस समय उनके मनपर क्या बीती होगी। पर क्यों? उसके अपने मन पर उस घटनाका क्या प्रभाव हुआ था? कुछ नहीं, उस समय तो प्रभावके लिए अवकाश कहाँ था; प्रभाव तो बादमें होगा, जब उस सब-कुछकी तात्कालिक उग्रता कम हो जाएगी, जब वह जड़ बनानेवाली न रहकर केवल रुलानेवाली रह जाएगी ..

शेखरको पता नहीं था कि उसके हाथ उस लम्बे सुवाको

उठाए-उठाए थक गए हैं, पर तभी उसके भाईने वह उसके हाथसे ले लिया। शेखर घाटीके उतारपर ही बैठ गया, और अपलक-नयन चिता की ओर देखने लगा।

उन लपलपाती जिह्वाओंमें, उन असंख्य रक्त-मुकुरोंमें, उसे माँकी साधारण सौम्यमूर्त्तिका प्रतिबिम्ब नहीं दीखा। दीखे भूत के चित्र, वार्तालाप, भाव, जो थोड़ी देरमें एक भयङ्कर स्मृतिमें परिणत हो गए—एक स्मृति, जो साकार उसके आगे नाचने लगी और हटाए नहीं हटी...

वह दृष्टि—माँ उस अन्तिम क्षणमें पिताकी ओर देख रही . क्यों? क्या कहनेको? उस अन्तिम एक क्षणमें, ऐसी कौन-सी बात उसे याद आ गई थी जो वह अपने तीस वर्ष के वैवाहिक जीवनमें नहीं कह चुकी थी, जिसका इसी समय कह डालना इतना महत्त्वपूर्ण हो गया था—मृत्युके अन्तिम, अमोघ आघातसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण? क्या यही मात्र वह कहना चाहती थी कि वह आघात अन्तिम है, अमोघ है, कि अब...

अब क्या?

शेखरको भूल गया कि वह किस भाँति इस वाक्यको पूरा करना चाहता था। वह उसी दृश्यमें खो गया, उसी समयकी विचार-मालाएँ फिर उसके मनमें भर गईं। उसे याद आया, उसी समय उस दृष्टि को देखकर उसके मन में एक तूफान-सा उठा था—विचार आए थे लहरोंकी तरह एकके ऊपर एक,

किसी एक ही गतिसे प्रेरित किन्तु परस्पर असम्बद्ध। उसने मन-ही मनमें, किन्तु कितने खिंचे हुए स्वरमे, कहा था—

"माँ, माँ, तुम्हारी दृष्टि क्या मेरे लिए नही है? किसी औरके लिए नही? किसी वस्तुके लिए नही? केवल-मात्र उसीके लिए वह अचल, शब्दहीन सन्देश...? ओफ, वह इस सन्देशको भस्म कर देनेवाली तीक्ष्णता के आगे झुक क्यों नही जाता, नष्ट-भ्रष्ट, चार क्यों नहीं हो जाता! कहता जाता है, 'पथराई जा रही है—पथराती है—यह क्या हो रहा है ..' "

वह क्रोध था या और कुछ, जिससे अभिभूत होकर शेखरने जोरसे अपना मुँह बन्द कर लिया था ताकि ओठो पर आए हुए शब्द बाहर न निकल जाएँ?—

"मूढ़, सुनो वे क्या कहती है; सुनो; यह शिकायत फिर भी हो सकेगी—बाद मे; अभी उनका सन्देश मत खोओ . . . "

तब फिर, रिक्त! तब वह खिंचाव नष्ट हो गया था, और वह डाक्टरके पास जानेकी तैयारी करते हुए एक शान्त भाव से सोचने लगा था, माँको सम्बोधित करके कहने लगा था, "माँ, अब निर्जीव शरीर-मात्र, उस एक दृष्टिमें तुमने सब-कुछ कह दिया है, तुमने अपना जीवन समाप्त किया है एक अन्तिम दिव्य सौन्दर्यमयी मुद्रामें! तुम माँ रही हो, तुम्हारा जीवन अपनी सन्तानमें और गृहस्थीकी सैकड़ो-हजारो छोटी-छोटी उलझनोंमें फँसा रहा है; किन्तु तुम्हारी प्रकृतिके घोरतम तलमे कुछ था, जो माँ नहीं, स्त्री था; जो उसका था, सदा उसका रहा और अब सदा

के लिए रहेगा . मृत्यु क्या है? पारलौकिक जीवन क्या है? स्मृतियाँ-श्रुतियाँ क्या हैं? ईश्वर क्या है? मान लिया कि तुम मर गईं, सम्पूर्णतया नष्ट, बिलकुल लुप्त, निःशेष हो गईं! उससे क्या होता है? तुमने वह कह दिया है .."

शेखर एकाएक उठ खड़ा हुआ। एक बार उसने चारों ओर देखा, मन्त्रोच्चारण करते हुए भी तीन-चार जन उसीकी ओर देख रहे थे। उसने अपने भाईसे स्रुवा ले लिया और यन्त्रवत् चितामें घी डालने लगा।

जब चिता जल भी चुकी, दाह-संस्कार समाप्त हो चुका, तब भी कुछ देर शेखरको होश नहीं हुआ। उसके बाद वह एकाएक चौंका-सा और चारों ओर देखकर, लज्जित-सा होकर, स्रुवा रखकर चुपचाप खड़ा हो गया। उसके पिता ने कहा, "अब क्या है शेखर, अब चलो।" तो बिना लौटकर देखे भी चल पड़ा। पीछे-पीछे पण्डित लोग और अन्य लोग आए, सबसे पीछे पिता, दो-एक बार लौट-लौटकर देखकर, चोरीसे आँखें पोंछकर!

किन्तु शेखरकी आँखें? निर्निमेष। गम्भीर, पर चिन्ताहीन। किसी भी प्रकारकी अनुभूतिसे हीन। और वह उस सारे जुलूस (!) के आगे-आगे चला जा रहा था, जैसे मॉस्कोसे लौटता हुआ नेपोलियन ..

४

पथपर।

मन्दिरके पथपर, जहाँ पहुँचकर यह समूह बिखरेगा; जहाँ

जाकर अनन्तपथ-पथिककी अन्तिम झाँकी लेकर, फिर उसे भुलाया जाएगा, सदाके लिए जीवनकी परिधिके बाहर धकेल-कर उससे अलग कर दिया जाएगा।

उस समय तक वह माँ है, स्त्री है, मानवी है, अपनी है; उस समय वह हो जायगी—एक स्मृति।

शेखर सोच रहा है कि लोग मन्दिर क्यो जाते हैं, क्या करने जाते हैं? वह स्वयं जाता रहा है; किन्तु वह जाता रहा है वहाँ का सङ्गीत सुनने, वहाँ के समवेत आरती-गानकी श्रद्धा-भरी ध्वनिके कम्पनसे एक अकथ्य अनुभूति प्राप्त करने, जो मन्दिरके बाहर, देवस्थान के बाहर, कहीं नही प्राप्त होती—या किसी असाधारण अवसरपर ही प्राप्त होती है। वह जाता है उस अनुभूतिको प्राप्त करने ही नहीं, उस कोमल झुटपुटे मे चुपचाप उसे दृढ़ करने, धूप-धूम्र, सुमन-सौरभ और घण्टानादसे सजीव उस रहस्यपूर्ण वातावरण में उसका सञ्चय करके उसे साथ ले आने के लिए। क्या लोग भी इसी भावनासे जाते हैं?

वह देखता है कि इसका कोई प्रमाण कहीं नही मिलता—न उसके साथ जानेवालोके चेहरोंमें, न उनकी वाणीमें, न उनकी बातचीतमें।

उस भीड़में कई ऐसे हैं जो अपनेको शेखरका सम्बन्धी बताते हैं। यही उनका शेखरसे सम्बन्ध है। अन्यथा शेखरके पुरखाओंके वे चाहे कुछ रहे हों, शेखर उन्हे न जानता है, न मानता है, न उनसे किसी प्रकारकी निकटताका अनुभव ही कर

सकता है। वह उनकी बातें सुनता जाता है और अधिकाधिक विस्मयसे सोचता जाता है कि यदि ये मनुष्य हैं, तो क्या मैं ही कोई पशु हूँ, या प्रेत हूँ, जो इनकी दृष्टि से देख नहीं सकता !

"कैसी दर्दनाक मृत्यु है ! मरते वक्त एक शब्द भी नहीं कह सकीं। हमारा सारा कुनबा बिखर गया। माली बाग लगाकर छोड़ गया। उसकी देख-रेख कौन करेगा ? बेचारीने कुछ सुख भी नहीं देखा, मरते वक्त कोई बात भी तो नहीं कह सकीं। अब घर कौन सँभालेगा ? किसीको कुछ पता नहीं कि कहाँ क्या है। जाननेवाली तो गई। कुछ कह ही जातीं। मृत्यु तो हरएक को ही आती है, पर ऐसी मृत्यु ! बिना एक शब्द कहे मर जाना ! हरे राम !"

शेखर चुपचाप सुनता है। पर ज्वालामुखीके उबलते हुए लावाके उफानकी भाँति उसके भीतर कुछ उठता है, उठता रहता है। यदि वह कुछ कह भी पातीं, तो क्या कह पातीं ? कुछ-एक निरर्थक शब्दोंके अतिरिक्त क्या ? मृत्युकी इतनी बड़ी महत्ताके आगे—क्षुद्र शब्द ! उनसे होना क्या—अब जब वह मर ही चुकीं ? वह मर ही चुकीं, तो उसके कहे हुए, या उसके द्वारा कहे जा सकनेवाले, किसी भी शब्दसे क्या—किसी भी शब्दसे ! अब इस सबसे क्या...

फिर कहीं कोई कह रहा है—

"सुना है, मरते समय उनकी कुछ खातिर भी नहीं हो सकी। उसी दिन सबेरे उन्होंने एक पान माँगा था—वह नहीं मिल

सका। वे यह कहती ही मर गईं कि मेरे लिए एक पानका भी प्रवन्ध नही हो सकता—देखो न उनकी दशा—"

शेखरको एकाएक वह क्षण याद आया, जव उसके पिताने उससे पूछा था, "क्या—?" और उसने कहा था, "कोलैप्स है .." और उसके थोड़ी देर बाद, पिताने फिर पूछा था—इस वार अँगरेजीमें—"इज़ देयर लाइफ ? (जीवन शेष है ?)" और वह चुप रह गया था—यह सोचकर कि शायद नही शेष है, और कैसी परिस्थितिमें खोया है—एक अन्तिम क्षुद्र शिकायत लेकर कि मेरे लिए पान नही आ सका . ईश्वर !

शेखरने एक लम्बी साँस ली। पर उसे दुःख नहीं मालूम हुआ। उसने वात कहनेवाले व्यक्तिकी ओर देखा। एकाएक क्रोधसे उसका वदन जल उठा ; पर वह ओठ काटकर उसे दवा गया। ओठसे खून निकल आया...

शेखरकी गति धीमी हो गई। अभी तक सारी भीड़ उसके पीछे थी, अब धीरे-धीरे आगे निकलने लगी। एक-आध व्यक्तिने चाहा, उसे ढाढ़स दिलाए और आगे चलनेके लिए कहे, पर उसके मुखकी ओर देखकर किसीको साहस नहीं हुआ।

शेखरकी गति क्रमशः और भी धीमी होती गई ..

५

शेखर अभी मन्दिरसे बहुत इधर ही था जव सारी भीड़ उसे पीछे छोड़कर निकल गई, और वह चुपचाप लौटकर चला आया उसी चिताके अवशेषके पास।

क्रोध कहीं उठता है, और किधर-किधर बहकर कहाँ पहुँच जाता है ! इस समय शेखर अपने ही को कह रहा था—"यदि तुम्हारा दुःख उनसे विभिन्न है, यदि तुम्हारी अनुभूति उनसे तीखी, उनसे गहरी है, तो तुम ऐसे नीरस क्यों हो ? तुम्हें क्यों क्लेश नहीं होता, तुम क्यों नहीं रोते ? या तुम्हारा दुःख रोनेसे परे है, तो क्यों नहीं तुम वज्राहतकी तरह पड़े हो ? तुम्हें कुछ भी नहीं हुआ, रत्ती-भर दुःख नहीं हुआ, तुम यहाँ चिताके किनारे खड़े भी सुस्थ दिमागसे यह सोच सकते हो कि तुम्हें दुःख हुआ है या नहीं ! दिव्य पुरुष तुम नहीं हो ; तब पशु हो, या पत्थर .."

उसे कुछ भी समझ नहीं आ रहा था। उसका मस्तिष्क ठीक काम कर रहा था, किन्तु वह सारा काम था निष्फल, किसी परिणाम तक पहुँचनेमें पूर्णतया असमर्थ ; बिलकुल व्यर्थ।

शेखर चिताकी ओर देखने लगा। वह अभी तक सुलग रही थी, और जहाँ शेखर बैठा था, वहाँ तक उसका ताप पहुँचता था।

उसमें से धुआँ नहीं निकल रहा था ; पर एक उत्तप्त वाष्प-सा उठ रहा था, जिसके कारण उसके पारका दृश्य शेखरकी दृष्टिमें एक विचित्र प्रकारसे कम्पित हो रहा था, मानो अधूरा जीवन पाकर लड़खड़ा-सा रहा हो...शेखर उसीको देख रहा था, मुग्ध-सा, मूढ़-सा, ऐन्द्रिक अनुभूतिसे परे कहीं।

एकाएक किसी ओरसे तितलियोंका एक जोड़ा उड़ता हुआ

आया, सीधा चिताकी ओर। शेखरने देखा, वे चिताके पास आकर, शायद गर्मीका अनुभव करके, एकाएक ऊपर उठीं, किन्तु उठते-उठते उस उत्तप्त वाष्पके घेरेमें आ गईं; निकलनेकी चेष्टामें उद्भ्रान्त इधर-उधर लड़खड़ाईं, फिर काँपकर, मुरझाकर, झड़ती हुई पंखुड़ीकी भाँति, चितामें गिर गईं। जल गईं।

शेखरने किसी अपर इन्द्रियसे यह सब देखा। उसे कुछ भी अनुभव नहीं हुआ। एक छोटे-से क्षणमें उसके मनमें एक भाव गुज़रा कि यह घटना भी उस जैसी है, इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है। पर यह कितनी निरर्थक है, उसके अनुभव-क्षेत्रसे कितनी परे—यद्यपि यह उससे सौ-गुनी करुणा-भरी है, और कुछ नहीं तो इसी निरर्थकताके कारण! इनके मर जानेपर, इनका क्या रह गया होगा? घर-बार? यश? कीर्ति? कृतियाँ? स्मृतियाँ? सन्तान रही होगी, किन्तु उस मस्तिष्कहीन, ज्ञानशून्य सन्तानको इससे क्या कि वह किससे पैदा हुई थी! कितनी साधारण, कितनी निरर्थक, कितनी क्षुद्र, प्रकृति-गतिमें कितनी नगण्य घटना है यह मृत्यु!

शेखरको अनुभव कुछ भी नहीं हुआ। पर वह लड़खड़ाकर बैठ गया, एक बड़ा-सा बुलबुला-सा उसकी छातीमें उठा और गलेमें आकर फूट गया, आँखें उमड़ आईं; और एक व्यथा-भरी सिसकीमें वह रो पड़ा—"माँ!....."

मिलन

देहली जेल
सितम्बर, १९३१

संसारमें कितनी ही विचित्र घटनाएँ होती हैं, जिन्हे देख-सुनकर हम सोचने लगते हैं, यह क्यो हुई ? इसका क्या अभिप्राय था ? यदि यह किसी की आन्तरिक प्रेरणा से हुई, तो उस प्रेरणाकी जड़ कहाँ थी ? यदि किसी बाह्य प्रेरणासे, तो उस प्रेरणाका आधार कौन था ? और अगर इस घटनामें दैवका हाथ है, तो इस घटनाके ऐसे स्थानपर, ऐसे समयमें, इस प्रकार होनेमे क्या अभिप्राय था, क्या गूढ़ तत्त्व था ?

जब हमारे मनमें ऐसे प्रश्न उठने लगते हैं, तब पहले-पहल हमें इस बातका आभास होता है कि संसारमे एक ऐसी महती शक्ति है, जिसका परिमाण, जिसका तत्त्व हम नहीं जान पाएँ, जिसमें लचक है, पर साथ ही कठोरता भी, जिसमे दया है, पर साथ ही एक घोर परिहास भी। इस शक्तिको कोई आत्मा कहता है, कोई भावी ; कोई इसे आन्तरिक प्रेरणा समझता है और कोई बाह्य ; कोई उसे ऐहिक समझता है और कोई नैसर्गिक। किसीकी रायमें इस शक्तिका प्रवाह उन्मत्त, पथहीन, अनवरुद्ध है ; किसीकी रायमें इसका सञ्चालन संयमित है।

सभी को इसके प्रवाहमें एक अनियन्त्रित उन्माद दीखता है, और इसके उन्माद में एक नियन्त्रित प्रवाह। और इस प्रवाहको, इस उन्मादको, इस विचित्र असंयमित नियन्त्रणको कोई नहीं समझ पाता, सभी अन्वेषक मानो एक दीवारसे टकरा कर रुक जाते हैं।

मैं बहुत दिनों से इस शक्तिका प्रवाह देख रहा हूँ। कभी-कभी उसे समझनेकी चेष्टा भी कर लेता हूँ, पर प्रायः उसके विचित्र विन्यासको देखनेमें ही मेरा समय बीत जाता है..

सन् १९०५ में यहाँ जो विस्फोट हुआ—उसे उत्पात कहना चाहिए, या दङ्गा, या विप्लव, या क्रान्ति, इसका निर्णय नहीं कर सका, इसलिए विस्फोट ही कहता हूँ—उसमें भी मैंने इसी शक्तिका आभास पाया था। लोग जब उसकी अवश्यंभाविताकी बात करते, तो मैं सोचा करता, यह अवश्यंभाविता उसी शक्तिके प्रवाह का नामान्तर नहीं तो क्या है? फिर इसी बड़ी क्रान्तिमें, जिसमें एक साथ ही सारा रूस धधक उठा, और उस प्रज्वलनकी लपेट में सदियों से पूजित राजवंश और रास्पुटिन जैसे शक्तिशाली व्यक्ति भस्म हो गए, इसमें भी क्या था? जिस पीड़ा, व्यथा, अशान्ति में, जिस असित दैन्य और असिट भूखमें, इस घोर क्रान्तिका अंकुर था, वे भी क्या थीं? उसी शक्तिका घोरतम प्रमत्त अट्टहास!

पर जिस घटनामें मैंने इस शक्तिकी झलक सबसे स्पष्ट देखी थी, वह न सन् १९०५ का विस्फोट था, न सन् १९१७ की क्रान्ति; वह थी एक बहुत छोटी-सी घटना, बहुत ही साधारण, जिसका इन दोनों से थोड़ा-थोड़ा सम्बन्ध था—वह था दो मित्रोंका विच्छेद और पुनर्मिलन।

उन दोनों को पहले-पहल मैंने सन् १९०३ में स्कूलमें देखा। मैं जब नार्मल स्कूलमें अध्यापक-श्रेणी में पढ़ता था, तब वे दोनों

आठवींमें आकर दाखिल हुए थे। उन दिनों भी उनमें आपस में काफी घनिष्ठता थी। वे अपने गाँवसे एक साथ ही आते, स्कूलमें सबसे अलग एक साथ बैठते, बोलते, खाते ; फिर एक साथ ही स्कूलसे वापस चले जाते। उनके गाँवसे और भी लड़के उस स्कूलमें आते थे ; पर उनका एक समूह अलग लौटता था, और वे दोनों अलग।

इनकी मैत्री सबको स्वाभाविक जँचती हो, सो बात नहीं थी। उनके शरीरके गठनमें, बोलचालमें, रुचिमें, स्वभावमें बहुत अन्तर था। देखनेवाला उनमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक देख पाता था। सर्जियस कदमें लम्बा-चौड़ा और गौर वर्णका था, उसके बाल फीके सुनहरे और आँखें हल्के नीले रङ्गकी थीं। उसके ओंठ पतले थे और प्रायः दबे हुए रहते थे। जब वह चलता, तो उसकी चालमें लापरवाही झलकती थी। डिमीट्री कदमें छोटा था, पर उसका शरीर खूब गठा हुआ था। जब वह चलता था, तो मालूम होता था कि फौजी कवायद करता रहा है। उसके बाल गाढ़े भूरे रङ्गके थे और उसकी आँखें छोटी, परन्तु काली और खूब चमकती हुई थीं। मुँहपर उसके प्रायः एक हल्की-सी हँसी रहती थी। उसकी आयु सर्जियस से साल-भर कम थी, और वह सर्जियसकी अपेक्षा अधिक मिलनसार था, अपने सहपाठियों से हँस-बोल लेता था। सर्जियस जब कुछ कहता, तो इस ढङ्गसे, मानो उसे इस बातकी आशा नहीं है कि कोई उसका विरोध करेगा; डिमीट्री बात करता तो पहले विरोधके

लिए चौकन्ना होकर। पढ़नेमें सर्जियसकी रुचि साहित्यकी ओर थी, डिमीट्रीकी इतिहासकी ओर। सर्जियस स्कूलके ड्रामेटिक क्लबमें भाग लेता था, डिमीट्री प्रायः डिबेटिंग सोसाइटियों में बोला करता था।

फिर भी न-जाने क्यों, उनमें इतनी घनिष्टता थी, न-जाने कौन-सी प्रेरणा उन्हें एक-दूसरेकी ओर आकर्षित करती थी। कुछ दिनोंसे मैं भी उनसे मिलने लगा, पर आयुके भेदके कारण वे दोनों ही मुझसे कुछ झेपते थे। दो वर्ष उनसे मिलते रहनेपर भी मैं उस घनिष्टतामें भागी नहीं हुआ, केवल उनकी उस विचित्र मैत्रीका निकट-दर्शक ही हो पाया।

जब सन् १९०५ का विस्फोट हुआ, तब मैंने नार्मलकी परीक्षा पास ही की थी। सर्जियसकी आयु उस समय शायद अठारह वर्षकी थी और डिमीट्रीकी सत्रह। वे दोनों स्कूलकी अन्तिम परीक्षा पास करनेवाले थे। हमें आशा थी कि वे भी नार्मलमें अध्यापक-श्रेणीमें दाखिल होंगे, क्योंकि दोनों ही तीक्ष्णबुद्धि थे। पर जिस दिन ज़ारकी घोषणा वहाँ पहुँची कि रूसमें प्रजा-प्रतिनिधियों की व्यवस्थापिका सभा ड्यूमा बनाई जाएगी और उसके उपलक्षमें हमारे स्कूलमें उत्सवके लिए छुट्टी हुई, उस दिन वे दोनों स्कूल नहीं आए—उत्सवमें भी नहीं आए। न-जाने क्यों, उनके न आनेसे मेरा मन नहीं लगा। शामको उत्सव समाप्त होनेसे पहले ही मैंने अपना ओवरकोट पहना और उनके गाँवकी ओर चल दिया।

वहाँ पहुँचकर मुझे उनका पता पूछना नही पड़ा। गाँवके बाहर ही एक गिरे हुए पेड़के तने पर दोनो बैठे बातें कर रहे थे। मैंने पुकारा, "डिमी!" तो दोनो उठ खड़े हुए।

मैंने पूछा, "डिमी, तुम दोनो आज उत्सव मे क्यो नहीं आए?"

उसने उत्तर दिया, "अब हम स्कूल नही जाएँगे।"

मुझे दुःख भी हुआ और विस्मय भी। मैंने पूछा, "क्यो?"

वह बोला, "हम लोग अब गुलामी से छूट गए हैं, अब हमें इस गाँव में बँधे रहना नही पड़ेगा। हमें दोनों पीटर्सबर्ग जाकर नौकरी ढूँढ़ेगे और कुछ कमाकर घर भेजेंगे।"

मैं थोड़ी देर चुप रहा—सोचता रहा कि अगर गाँवोंकी प्रतिभा शहरोंमे जाने लगेगी, तो फिर हमे नए स्वातन्त्र्यका फायदा ही क्या हुआ?

"अच्छा डिमी, तुम पीटर्सबर्ग में करोगे क्या?"

"यह तो अभी नहीं सोचा है—अभी तो इतना ही निर्णय किया है कि कुछ करूँगा ज़रूर।"

"और तुम, सर्जी?"

"मैं तो ज़ारकी सेनामें कर्नल होऊँगा।"

मैं कुछ हँसा। फिर मैंने पूछा, "ज़ारकी घोषणासे तुम्हें व्यक्तिगत लाभ तो हुआ है, पर देशपर क्या असर होगा, कभी सोचा है?"

डिमीट्री बोला, "मैं तो समझता हूँ, इतना लड़ाई-झगड़ा

करनेपर भी हमें कुछ नहीं मिला। यह जो सीमित स्वातन्त्र्य हमें मिला है, आजसे कहीं पहले मिलना चाहिए था। बल्कि मुझे अचम्भा होता है कि हम इतने दिन बँधे कैसे रहे! जब हम सब बराबर हैं—"

सर्जियस बीचमें बात काटकर बोला, "यह धारणा ग़लत है। आदमी कभी बराबर नहीं होते। जिसको हम स्वातन्त्र्य कहते है, वह होता ही नहीं। एक का ज़ार और दूसरे का मजदूर होना स्वाभाविक है। यह भी स्वाभाविक है कि शासक थोड़े हों और शासित बहुत; क्योंकि धनकी तरह शक्तिका स्वभाव है कि एक ही केन्द्रपर सञ्चित होती रही है। शक्ति एक केन्द्रसे बिखरकर नष्ट होती रहे, यह प्रकृति के विरुद्ध बात है।"

डिमीट्रीने उत्तर दिया, "और जिधर प्रकृति हमें घसीटे, उधर ही हम लद्दू घोड़ेकी तरह दुम दबाए चलते जाएँ, यह मानवताके विरुद्ध है। हम मनुष्य तभी हैं, जब हम प्रकृतिकी प्रेरणाओं को दबाकर अपने आदर्श को ऊपर रखें। जब हम आदर्श स्थापित करते है, तब यह सोचकर नहीं करते कि प्रकृति हमें उसका अनुसरण करने देगी या नहीं। पहले आदर्श स्थापित होता है, फिर यदि प्रकृति उसमें रुकावट डाले, तो उससे भी लड़ना पड़ता है। क्यों, मास्टर निकोलाई?"

मैं उत्तर दिए बिना सर्जियसकी ओर देखने लगा। वह बोला, "यह खोखला आदर्शवाद है। वास्तवमें ऐसा कहाँ होता

है ? हम आदर्श सामने रखते हैं, और बड़ी ऐंठसे उसका अनुसरण करते हैं; पर जब प्रकृति सामने आती है, तो कौन उससे लड़ता है ? लोग दुबककर आदर्श बदल लेते हैं। माल्थुसने जब अपने सिद्धान्तोंका प्रचार किया तब लोग चिल्लाने लगे, आदमी बहुत बढ़ रहे हैं, इनके रोकने के लिए संयम चाहिए ! प्रकृति चिल्लाई, यह नहीं होना ! फिर किसने किया संयम ? लोग सन्तान-निग्रहके रासायनिक तरीके ढूँढ़ने लग गए। प्रकृतिके विरुद्ध हम कभी सफल नहीं हो सकते।"

डिमीट्री कुछ हँसकर बोला, "यही तो। तुम क्या समझते हो, संयम प्रकृतिके प्रतिकूल है ? यह जिसे तुम सन्तान-निग्रह कहते हो, यही तो प्रकृतिके विरुद्ध है। संयम तो पशु भी करते है। अगर मान भी लें कि विषय-तृप्ति ही प्रकृति का नियम है, तो क्या हम इसका विरोध नहीं करते ? जैसे—"

वह कुछ शर्माकर रुक गया। मैंने कहा, "क्यों डिमी, रुक क्यों गए ?"

वह बोला, "एक उदाहरण देने लगा था, वह कुछ भद्दा है, इसलिए रुक गया।"

मुझे कुछ कौतूहल हुआ। मैंने कहा, "अगर लागू है तो दे दो, कोई हर्ज नहीं है।"

वह कहने लगा, "अपने ही आत्मीयोके प्रति हमारे हृदयमे वासनाएँ क्यों नही जागती ? उनके प्रति क्यो हमारे मनमे आदरका भाव रहता है, क्यो पवित्र विचार होते हैं ? यह तो

प्रकृतिका नियम नहीं है? पशुओंमें तो कोई ऐसा भेद-भाव नहीं होता? यह प्रकृतिपर आदर्शकी जीत नहीं, तो और क्या है?"

सर्जियस कुछ सोचमें पड़ गया। मैंने देखा, इन दोनोंकी विचार-शैली अभी पकी नहीं थी, परिष्कृत नहीं हुई थी। फिर भी यह मै जान गया कि दोनों सामाजिक और राजनैतिक समस्याओंका अध्ययन अच्छी तरह कर रहे हैं। यह भी समझने मे देर नही लगी कि दोनों की वृत्तियाँ उन्हे किधर-किधर प्रेरित करेंगी। मैने दोनो के कन्धोंपर हाथ रखकर हँसते हुए कहा, "तुम लोग प्रसङ्गसे कितनी दूर निकल गए!"

डिमीट्री बोला, "फ़ायदेकी बात सोचते ही सिद्धान्त सामने आ जाते है, क्योंकि मै फ़ायदा उसीको समझता हूँ, जिससे आदर्शका पोषण हो। सर्जीका मत मुझसे भिन्न है।" यह कहकर उसने सर्जियसकी ओर देखा।

उसने कहा, "हाँ, मैं आदर्श उसको गिनता हूँ, जो लाभप्रद हो।"

मैने दोनों की पीठ ठोककर कहा, "तुम दोनों फ़िलासफ़र हो गए हो! चलो, ज़रा घूमने चले।"

वे मेरे साथ हो लिए।

जब हम लौटे, तब अँधेरा हो रहा था। जब हम गाँव के छोरपर पहुँचे, अलग होने का समय आया, तो मैंने पूछा, "अच्छा, तो फिर कब मिलोगे?"

डिमीट्रो हँसकर बोला, "पहले का तो पता नहीं, हाँ, १९२० में आज के दिन अवश्य मिलेंगे।"

मैंने विस्मित होकर पूछा, "कैसे, डिमी ?"

वह सर्जियस की ओर देखकर बोला, "हम दोनों ने एक षड्यन्त्र रचा है। आज से पूरे पन्द्रह साल बाद हम स्कूल के बड़े खम्भे के नीचे मिलेंगे। चाहे कहीं हो, कितना ही काम छोड़कर आना पड़े, आएँगे अवश्य। और शायद अपने-अपने अनुभव एक दूसरे को सुनाएँगे।"

"किस समय ?"

"रात को आठ बजे।"

"अच्छा, अगर मैं आ सका, तो शायद मैं भी आ जाऊँ।"

कुछ देर तक हम चुप रहे। फिर सर्जियस बोला, "अच्छा, मास्टर निकोलाई, अब पन्द्रह वर्ष के लिए बिदा दीजिए।" यह कहकर उसने रूसी ढङ्ग से सिर से ऊपर हाथ उठाकर सलाम किया।

मैंने कहा, "ऐसे नहीं, सर्जी !" और उससे हाथ मिलाए। फिर वह कुछ हटकर खड़ा हो गया। मैंने डिमीट्री से हाथ मिलाए। वह हँसता हुआ बोला, "मास्टर निकोलाई, उस षड्यन्त्र को भूलना मत !"

मैंने कहा, "नही भूलूँगा।"

क्षण-भर में वे आँखों से ओझल हो गए। मैं भी अँधेरे में खेतों में से होकर धीरे-धीरे अपने स्कूल की ओर चल पड़ा ..

इसके बाद...मैं फिर अध्ययन और अध्यापन के फेर में पड़ गया। आँधियाँ आईं और चली गईं, उत्पात खड़े हुए और बैठ गए; विस्फोट हुए और बुझ गए; पर हमारे स्कूल के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ. हाँ, मुझमें जो-कुछ भावुकता थी, धीरे-धीरे सूख गई; जो कविता थी, वह अनुक्रम (routine) की दृढ़ श्रृङ्खला में घुटकर मर गई—और डिमीट्री और सर्जियस भी धीरे-धीरे भूल गए, उनके षड्यन्त्र की और अपनी प्रतिज्ञा की स्मृति भी बुझ गई...

पर सन् १९१७ की क्रान्ति जब आई, तब हमारा छोटा-सा शहर भी उससे बच नहीं सका। स्कूल टूट गया, सब अध्यापक और बहुत-से छात्र लाल झण्डे के नीचे जा खड़े हुए। मैं भी उस क्रान्ति की लपेट में—या उस अज्ञात शक्ति के प्रवाह में?—आ गया, और एक साधारण सिपाही की वर्दी पहनकर उस झण्डे की छाया में लड़ने लगा। फिर...फिर मैंने बहुत-कुछ देखा—जीवन कितना वीभत्स हो सकता है, भूख की व्यथा कैसी होती है, सारी-सारी रात जगकर रेत की बोरियों के मोर्चे पर गिरती हुई बर्फ मे बैठकर पहरा देने में क्या मज़ा है, बर्फ से भी शीतल बन्दूक की नली ठिठुरे हुए हाथो मे पकड़कर बारह घण्टे खड़े रहने पर प्राणिमात्र के प्रति कैसी जलन हृदय में होती है, लहू में सनी हुई वर्दी शरीर से पाँच-पाँच दिन अलग न कर सकने में आत्म-बल पर कैसा प्रभाव पड़ता है—इन सब बातों का अनुभव सन् १९१७ के तीन ही महीनो में हो गया....उसके बाद सुना,

क्रान्ति समाप्त हो गई। हम लौट आए। आकर देखा, जहाँ स्कूल था, वहाँ एक होटल खुला हुआ है! स्कूल वहाँ से उठकर एक नये भवन मे चला गया था।

जीवन मे थोड़ा-सा वैचित्र्य आ गया। पर हम धीरे-धीरे फिर शृङ्खलाओं में बद्ध होने लगे। हाँ, इस वार इस बन्धन की गति कुछ कम हो गई, क्योंकि देश में अशान्ति छाई हुई थी, एक क्रान्ति की राख में दूसरी की आग सुलग रही थी....

इधर-उधर से विचित्र समाचार आने लगे। साम्यवादी फौज का एक अंश जाकर साम्राज्यवादियों के दल से मिल गया, और घर ही में युद्ध होने लग गया...

फिर एक दिन सुना, नई क्रान्ति होनेवाली है। बर्फ पड़नी आरम्भ ही हुई थी कि नई क्रान्ति हो भी गई—उसको दस दिन भी नहीं लगे...

फिर देशमें कुछ शान्ति हुई, और मेरा जीवन पुराने ढॉचेमें अच्छी तरह बैठ गया।

शान्ति तो हो गई, पर साम्राज्यवादियो के उत्पात बन्द नहीं हुए। मास्कोमे, कीफमें और विशेषतः पीट्रोग्रेडमें—पीटर्सबर्ग अब पीट्रोग्रेड हो गया था—उनकी गुप्त समितियाँ आतङ्क फैलाने लगी। सोवियटने उनके प्रति घोर दमन-नीतिका अनुसरण किया।

होते-होते सन् १९२० आया...हमें फिर सन् १९०५ की घोषणाके उपलक्ष्यमे छुट्टी मिली...

इस बार स्कूल का उत्सव नहीं हुआ। सब अपने-अपने घरोंको

चले गए। और मैं—सारा दिन बाज़ारमें घूमता रहा, शामको थका-माँदा उसी होटलपर पहुँचा, जहाँ किसी दिन हमारा स्कूल होता था। मैंने दरवाज़ेके पास ही एक मेज़पर बैठकर रोटी, भूने हुए आलू, सिरका और एक गिलास पानी—बीयर उन दिनों दुर्लभ थी!—मँगाया और धीरे-धीरे खाने लगा। खाते-खाते सोच रहा था, जिन दिनों यहाँ स्कूल था, उन दिनोंकी और आजकी मनोवृत्तिमें कितना अन्तर है। उन दिनों आशावाद कितना सुखमय था—और आज जीवन कितना नीरस हो गया है! मैं सोचता जाता और होटलके बाहर लगे उस बड़े गैस-लैम्पकी ओर देखता जाता। उसपर जब पतङ्गे जल-जलकर गिरते, तो मुझे एक विचित्र शान्तिका अनुभव होता। शायद अपने जीवनकी नीरसताके लिए सान्त्वना मिलती थी!

एकाएक मैं चौंका। उस लैम्पके नीचे ओवरकोट और टोप पहने एक व्यक्ति आकर खड़ा हो गया। उसके शरीरकी गठन, उसकी चाल, परिचित मालूम होती थी। मेरे मस्तिष्कमें स्मृतियाँ चक्कर खाने लगी...पर उसकी याद न आई। फिर—

सर्जियस! स्मृतिकी एक बड़ी-सी लहर आई—सर्जियस, डिमीट्री, वह षड्यन्त्र और अपनी प्रतिज्ञा—सभी किसी अँधेरी गुफासे निकलकर सतहपर आ गए...

पहले मेरी इच्छा हुई, उसे बुलाऊँ। फिर मैंने सोचा, मैं तो दर्शक ही था, उनका मिलन देखलूँ, फिर जाऊँगा। मैं

वहीं बैठा देखने लगा, भूखकी ओर मेरा ध्यान नहीं रहा। शायद मैं दो-एक आलू बिना छीले ही खा गया ..

अँधेरेमे से एकाएक गैसके प्रकाशमें एक और व्यक्ति आया—गठा हुआ, चुस्त, सोवियटकी फौजी वर्दी पहने हुए .. डिमीट्री !

क्षण-भर दोनो खड़े रहे। फिर सर्जियसने धीरेसे कुछ रुकते हुए कहा, "डिमीट्री पिट्रोविच ?"

डिमीट्री के मुखपर आनन्दकी रेखा दौड़ गई। वह बोला, "सर्जी ! सर्जी !" और लपककर उसके गलेसे लिपट गया।

फिर धीरे-धीरे कुछ बातें हुईं। मै नही सुन पाया। उसके बाद मैंने देखा, दोनों होटलकी ओर आ रहे है। मैं पीछे हटकर अँधेरेमें हो गया।

वे आकर एक मेज़पर बैठे और कहवा मँगाकर पीते-पीते बातें करने लगे।

"कहो सर्जी, कैसे रहे ?"

"बड़े मजेमें। कर्नल तो नही हो पाया, कप्तान हो गया था। उसके बाद हमारी सेना ही छिन्न-भिन्न हो गई।"

"अब क्या करते हो ?"

सर्जियस कुछ रुककर बोला, "अब तो कुछ नहीं कर रहा हूँ। हाँ, थोड़े दिनोंमें कही नौकरी कर लेनेकी आशा है। पर तुम कहो ?"

"मैंने बहुत धक्के खाए। यहाँसे जाकर कुछ दिन तो कुली

का ही काम किया । फिर मजदूरोंकी मिलिशियामें भर्ती हो गया। फिर क्रान्ति आई, तो उसमे भी भाग लिया। अब—अब मै सेनाका लेफ्टिनेएट हूँ।"

डिमीट्रीने जेबसे सिगरट-केस निकालकर सर्जियसकी ओर बढ़ाया। सर्जियसने कहा—"इस वक्त इच्छा नहीं है।"

डिमीट्री जेब टटोलने लगा । फिर बोला, "सर्जी, तुम्हारे पास दियासलाई है ?"

सर्जियसने ओवरकोटके बटन खोले और अन्दरसे दिया-सलाईकी डिबिया निकाली।

मैंने देखा, डिमीट्री चौंका । और फिर अनिमेष होकर सर्जीके गलेकी ओर देखने लगा। मैने भी उसकी ओर देखा, सर्जियसके ओवरकोटके अन्दर गलेमें एक सफेद और नीली धारियोंवाला रेशमी रूमाल बँधा हुआ था .

डिमीट्रीने दियासलाई लेनेके लिए हाथ बढ़ाया, तो उसका हाथ काँप रहा था।

सर्जियसने भी यह देखा, और चिन्तित होकर बोला, "डिमीट्री, तुम बीमार तो नहीं हो ?"

डिमीट्रीने कहा, "नही, मेरे कुछ सरकारी कागज़ बाहर गिर गए है। तुम बैठो, मै अभी आया।" कहकर वह सर्र से बाहर चला गया ।

मै कुछ देर सर्जियसकी ओर देखता रहा, फिर उठकर उसके पास चला गया।

"सर्जियस, मुझे पहचानते हो ?"

उसने मेरी ओर ध्यानसे देखा । फिर खड़ा होकर बोला, "मास्टर निकोलाई, आप यहाँ कहाँ ?"

मै झूठ कई बार बोला हूँ । पर सर्जियससे मै पहली बार झूठ बोला । मैने कहा, "षड्यन्त्रमे अपना भाग पूरा करने आया था ।"

वह हँसा । फिर हम दोनों बैठ गए । मैने कहा, "मै तुम्हारी बातें सुन रहा था । तुम जो कह रहे थे, आजकल कुछ नही कर रहे, तो सेनामे भर्ती क्यो नही हो जाते ? पहले कप्तान तो रह ही चुके हो, अब—"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ा । मैं कुछ अप्रतिभ-सा होकर चुप हो गया । फिर वह कहने लगा—"मास्टर निकोलाई, इस सेनामे—"

सीढ़ियोपर किसीके पैरकी आहट आई । मैने समझा, डिमीट्री आ रहा है । उसको स्तम्भित करने के लिए मैने पुकारा, "डिमी !"

वह डिमी नही था ।

एक सार्जेण्टके साथ पाँच-छः सिपाही भीतर घुस आए । सार्जेण्टने सर्जियसके कन्धेपर हाथ रखकर कहा, "सर्जियस मार्टिनोवस्की, भूतपूर्व कप्तान, अब साम्राज्यवादी गुप्त-समिति के सदस्य, मै तुम्हे गिरफ्तार करता हूँ !" वह सब ऐसे कह गया, मानो रटा हुआ पाठ पढ़ रहा हो । सर्जियसने एक

तीव्र दृष्टिसे मेरे मुखकी ओर देखा, उसपर दुःख और विस्मयके भाव स्पष्ट देखकर गुनगुनाया, " डिमी ! डिमीट्री पिट्रोविच ! "

एक फीकी हँसी हँसकर उसने दोनो हाथ आगे बढ़ा दिए—हथकड़ियाँ लग गईं... ...

सर्जियस खड़ा हो गया। बोला, "मास्टर निकोलाई, यदि आपको डिमी कहीं मिले, तो—उसको मेरी याद दिला दीजिएगा।"

मैं कुछ उत्तर न दे सका। वे उसे ले गए...

मैं सोचने लगा, पन्द्रह साल बाद न-जाने कहाँसे वह आया था—एक स्मृतिके लिए ! और अब—

एक व्यक्ति आकर मेरे सामने बैठ गया। वह युवक था; पर उसके मुखपर झुर्रियाँ पड़ गई थी, अपनी टोपी नीचे खींचकर उसने अपनी आँखोपर छाया कर रखी थी। क्षण-भर मैंने उसे पहचाना नहीं। फिर मैंने कहा, "डिमी !"

उसने मेरी ओर देखकर कहा, " मास्टर निकोलाई ! " उसकी आवाज़में न आनन्द था, न विस्मय। मैंने देखा, उसकी आँखें छिपे हुए आँसुओंसे चमक रही थीं।

मैंने कहा, "सर्जियस तो गया !"

उसने उदास भावसे उत्तर दिया, "हाँ।"

हम दोनो चुप हो गए। फिर वह आप-ही-आप बोला, "अनुमान तो मैंने पहले भी किया था, पर जब मैंने उसके गले में वह चिह्न—त्रह न ली और सफेद धारियोवाला रूमाल—देखा,

तो मेरा कर्तव्य स्पष्ट हो गया। पर मैं स्वयं कुछ नही कर सका—बीस वर्षोंसे सञ्चित स्मृतिने साहस तोड़ दिया।"

मैंने कहा, "डिमी, डिमी! क्या कह रहे हो तुम!"

वह उठ खड़ा हुआ। अपनी फौजी जैकेटका तीसरा बटन खोलकर उसने अन्दरकी ओर सङ्केत किया। वहाँ एक छोटा-सा पीतलका बैज था, उसपर तीन अक्षर लिखे हुए थे...

'जी० पी० यू०', फौजी जासूस ..

मैं भौचक होकर उसके मुखकी ओर देखने लगा। वह बोला, "मित्रघात बुरा है या देशद्रोह, मै नही जानता!" फिर एकदम होटलसे बाहर निकाल गया और अन्धकारमे ओझल हो गया।

इसके बाद जो डिमीट्रीने सर्जियसको बचानेका विफल प्रयत्न किया, जो कोर्ट-मार्शल के आज्ञानुसार सर्जियस गोलीसे उड़ा दिया गया, और उसके बाद ही डिमीट्री अपने पदसे इस्तीफा देकर विदेश चला गया, यह सब इस प्रसङ्गकी बात नहीं है।

इस घटनाकी व्याख्या विभिन्न प्रकृतियोके लोग विभिन्न तौरसे करेंगे। डिमीट्रीके कर्मको कोई विश्वासघात कहकर सर्वथा अक्षम्य समझेगा, कोई उसे विश्वासघात कहकर क्षमा कर देगा, क्योंकि राष्ट्रके आगे एक आदमी का व्यक्तित्व क्या है? कोई शायद उसके कामको एक कठोर कर्तव्यका समुचित पालन मानकर सर्वथा उसकी सराहना भी करे ..पर उसकी

मनोगतिके, उसके कर्मके औचित्यका निर्णय करनेवाले हम कौन है, इसपर शायद कोई विचार नहीं करेगा -

मैने जो-कुछ देखा है, उससे मै इसी परिणामपर पहुँचा हूँ कि मानव-हृदयकी वृत्तियोका विवेचन करना हमारी शक्ति से बाहर है । डिमोट्रीका कर्म अच्छा था या बुरा, मैंने इस प्रश्न पर कभी ध्यान नही दिया। मै तो यही सोचता हूँ, कितनी महती शक्ति है वह, जो इन दोनोंको न-जाने कहाँ-कहाँ से खीचकर इस अनुष्ठानकी पूर्तिके लिए ले आई ! वर्षोंसे सिक्त उस मैत्रीकी इस पराकाष्ठामे, वर्षोंसे सञ्चित उस महती आकांक्षाके आकस्मिक विफलीकरणमे मुझे उसी नियन्त्रित शक्ति का प्रवाह दीखता है...या यो कहूँ कि उसी शक्तिका अनियन्त्रित, विकट, उन्मत्त अट्टहास . ?

एकाकी तारा

बहिन इन्दु को

मुल्तान जेल
अक्तूबर, १९३३

ऐसा भी सूर्यास्त कहाँ हुआ होगा . उस पहाड़ की आड़ में से सूर्य का थोड़ा-सा अंश दीख पड़ रहा है, और उसके ऊपर आकाश में, बहुत दूर तक फैली हुई एक लम्बी वारिदमाला लाल-लाल दीख रही है, मानो प्रकृति के बालों की लाल लाल लटें ..

या, जैसे सूर्य को फाँसी लटका दिया हो, और किसी अज्ञात कारण से फाँसी की रस्सी खून से रँगी गई हो . प्रतीची की विशाल कोख भी तो मानो सूर्य को लील लिए जा रही हो...

सूर्यास्त हो गया है। पर वह स्त्री या युवती उसी प्रकार निश्चल खड़ी, स्थिर दृष्टि से पश्चिमी आकाश को देख रही है... आसपास के सुरम्य दृश्यों की ओर, सामने बहती हुई छोटी-सी पहाड़ी नदी के स्वच्छ अन्तर की ओर, सामनेवाले पहाड़ की तलहटी से आती हुई बीन की अत्यन्त कम्पित, क्षीण ध्वनि की ओर, उसका ध्यान नहीं जाता ..वह अत्यन्त एकाग्र हो, समाधिस्थ हो, पश्चिम आकाश को देख रही है . मानो इसीपर उसका जीवन निर्भर करता है, मानो वह आकाश में बिखरे हुए रक्त को पीकर शक्ति प्राप्त करना चाहती है ; किन्तु जीवन न पाकर विष ही पाती है, फिर भी छोड़ नहीं सकती, मूर्छित भी नहीं होती...

सान्ध्य आकाश में थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ नहीं होता . किन्तु जो अपने हृदयों में ही एक काल्पनिक संसार

बसाए हुए उसे देखने आते हैं, जिनके अन्दर एक थिरकती हुई किन्तु अस्फुट प्रसन्नता होती है, या जो भीतर ही भीतर किसी गहरी वेदना से झुलस रहे होते हैं, उनकी तीखी अनुभूतियाँ उस आकाश में अपने ऐसे अरमानों का प्रतिबिम्ब पा लेती हैं, उनके लिए संसार की सम्पूर्ण विभूतियाँ, कोमलतम भावनाएँ, उसमें केन्द्रित हो जाती हैं—उस प्रदोपा के आकाश में .

वह देख रही है, और देखती जाती है ..इस दृश्य को उसने सैकड़ों बार देखा है, उन दिनों भी जब उसमें उस थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ नहीं था, (उसके जीवन में भी ऐसे क्षण थे—वह जो आज समझती है कि उसपर काल का बोझ अनगिनत वर्षों से पड़ा हुआ है !) और उन दिनों भी, जब वह उसमें संसार की समग्र व्यथा और वेदना का प्रतिबिम्ब देख पाई है... पर वेदना का चिन्तन भी मदिरा की तरह होता है, ज्यों-ज्यों उन्माद बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी लालसा तीखी होती जाती है...

वह उस उन्माद के पथ पर बहुत दूर अग्रसर हो गई है। एक परदा उसकी आँखों के आगे छा गया है, और एक सूर्यास्त के छायापट के आगे। पर इन तीनों पटों की आड़ से भी उसकी तीव्र दृष्टि आकारों को भेदती हुई चली जा रही है, देख रही है, पढ़ रही है, जीवन के नग्न सत्यों को...

इस भीषण शिक्षा से चौंककर, कभी-कभी उसकी दृष्टि एक दूसरी ओर फिरती है—उसके हाथ की ओर, जिसमें वह एक

छोटा-सा पुरज़ा थामे हुए है। वह पढ़ना नहीं जानती, पर आह! कितनी तीव्र वेदना से, कितनी मर्मभेदी उत्कण्ठा से, वह उस पुरज़े पर लिखी हुई दो-चार सतरों को देखती है; मानो उसके नेत्रों की ज्वाला से ही पत्र का आशय जगमगाकर उसके हृदय मे समा जायगा...

वह पढ़ना नहीं जानती, पर पत्र मे क्या लिखा है, वह पढ़वा कर सुन आई है 'भाई की तारीख परसों की लगी है—रात के नौ बजे...' बस, इतना ही तो लिखा है . .

आज ही तो वह परसों है—आज ही तो रात को वह नौ बजेंगे ..

और फिर वह पहले की भाँति, सूर्यास्त से वही शिक्षा ग्रहण करने लग जाती है .

वह है कौन ?

अपना नाम वह स्वयं नहीं जानती। जब वह बहुत छोटी थी, तब शायद उसके माता-पिता ने उसका कोई नाम रखा था। पर जब से वह अनाथिनी हुई, जब से वह अपने भाई के साथ घर से निकलकर भीख माँगने लगी, जब एक दिन उसके भाई ने उसे शक्कर के नाम से नमक की एक फाँकी खिला दी, और उस की मुखाकृति देख हँस-हँसकर उसे चिढ़ाने लगा, 'लूनी! लूनी!' तब से वह अपना नाम लूनी ही जानती है...

न-जाने कैसे वे भीख माँगते-माँगते शहरों मे पहुँच गए थे; पर पहाड़ों और जंगलों मे रहनेवाले वे उन्मुक्त प्राणी वहाँ के

वातावरण को नहीं सह सके . कुछ ही दिनों बाद भाई-बहन दोनों फिर पहाड़ों मे लौट आए और गूजरों के यहाँ चरवाहे बन कर रोटी का गुज़ारा करने लगे ..लूनी दिन-भर ढोर चराया करती, और उसका भाई एक चट्टान पर बैठकर गाया करता— या कभी-कभी कुछ पढ़ा करता . लूनी नहीं जानती कि वह पढ़ना कब और कहाँ सीख गया, कैसे सीख गया।

कभी-कभी वह सुबह नींद खुलने पर देखती, उसके भाई का पता नहीं है—वह दो-तीन दिन तक ग़ायब रहता, फिर कुछ नई किताबें लेकर लौट आता। पहली बार जब वह लापता हुआ, तब लूनी कितनी घबरा गई थी—पागल हो गई थी...इतनी कि जब वह लौटकर आया, तब उसे उलहना भी न दे पाई, उसे लज्जित-सा देखकर उससे चिपट गई थी और खूब रोई थी...

अब वह भाई लौटकर नहीं आएगा—अब उससे चिपटकर रोने का भी सौभाग्य लूनी को नहीं प्राप्त होगा ..

उसके बाद, कितने दिन बीत गए थे ! लूनी का भाई उसे अधिकाधिक प्रेम करता जाता था—पर साथ-ही-साथ दूर भी हटता जा रहा था। क्योंकि उसमें वह स्वयंभूति का भाव कम होता जा रहा था, और उसमे एक गम्भीर, विचारवान, सचेष्ट स्निग्धता आती जा रही थी। लूनी उसे समझती थी और नहीं समझती थी, उसका स्वागत करती थी और उससे खीझती थी...

दूर हटते-हटते एक दिन वह भाई उसके पास से बिल्कुल ही चला गया—दिनों के लिए नहीं, बरसों के लिए ..

जब वह लौटकर आया, तब लूनी नहीं रही थी, या स्मृति भर रह गई थी। वह एक सम्पन्न गूजर के घर बैठ गई थी। वह उसकी विवाहिता भी नही थी, उसकी रखैल भी नही थी। लूनी ने अपने-आपको मानो उसे दान कर दिया था, उसे अपना दान देकर उसे विदा कर दिया था और स्वयं अकेली रह गई थी ! कभी-कभी जब वह स्वयं अपनी परिस्थिति पर विचार करती, तब उसे जान पड़ता, उसके दो शरीर है, जो एक दूसरे के ऊपर खड़े हैं। एक मे उसकी सम्पूर्ण आत्मा, उसका अपनापन, बसा हुआ है और लूनी के भाई की आराधना में लीन है; और दूसरा, निचला, केवल एक लाश भर है। कभी-कभी दुरुपयोग से या शारीरिक अत्याचारों से पीड़ित होकर यह लाश ऊपर की आत्मा के पास फ़रियाद करती थी, तो उसमें एक क्षीण व्यथा-सी जागती थी, अन्य कोई उत्तर नही मिलता था...जैसे कोई दान दी हुई गाय का कष्ट देखकर यही सोचकर रह जाता है कि अब मुझे इसका कष्ट निवारण करने का अधिकार नहीं रहा !

जब वह भाई लौटकर आया, तब लूनी उसे अपने पास ठहरा तो क्या, उसके सामने भी नही हो सकी ! वह चुपचाप चला गया—परिस्थिति देखकर वह लूनो की मनिस्थति भी समझ गया था। दूसरे दिन जब लूनी अवसर पाकर अपने पुराने आसन पर—उसी चट्टान पर, जहाँ वह आज बैठी है—गई, तब उसका भाई वहाँ बैठा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। लूनी के

हृदय के किसी अज्ञात कोने में यह भाव जाग्रत हुआ कि अब भी कोई उसे समझता है, और इसी भाव से स्तिमित होकर उसने अपना सिर भाई की गोद में रख दिया, रो भी नहीं पाई, पड़ी रह गई ..भाई ने भी उसे पुकारा नहीं, थोड़ी देर चुप रह कर फिर धीरे-धीरे गाने लग गया। उस गाने का प्रवाह अर्थ के बोझ से मुक्त था, इसलिए वह लूनी के सारे मनोमालिन्य को बहा ले गया . जब उसने पुनः जाग्रत होकर अपनी कथा कह देने को सिर उठाया, तब कथा कहने की आवश्यकता ही नहीं रही थी। उसका भाई ही न-जाने क्या-क्या अनोखे विचार उसे सुना गया था जो उसने समझे नहीं, जो उसे याद भी नहीं रहे, किन्तु जिनकी छाया उसकी स्मृतिके परदे के पीछे सदा नाचती रही है..

आज वह चट्टान पर बैठी यही सब सोच रही है, और सूर्यास्त के छायापट से परे देख रही है ..

क्या देख रही है? उसी भाई की आज तारीख़ पड़ी है, उसी भाई को रात के नौ बजे फाँसी मिलेगी !

अँधेरा हो गया है। तलहटी मे, चीड़ के वृक्षों के झुरमुट मे छिपे हुए छोटे-से गाँव मे, कहीं आठ खड़के है। प्रशान्त वातावरण मे, इतनी दूर का स्वर स्पष्ट सुन पड़ता है...लूनी के सामने, पहाड़ की चोटी के पास, सान्ध्यतारा अकेला जगमगा रहा है। ज्यो-ज्यो आकाश मे इधर-उधर तारे प्रकट होते जा रहे है, त्यों-त्यो यह भी अधिकाधिक प्रोज्वल होता जा रहा है, मानो अपने

एकछत्र राजत्व में विघ्न होते देखकर उत्तेजित हो रहा हो .. और लूनी जिस एक घटना पर चिन्तन करने आई है, उसे सोच नहीं पाती ; उसका मन निरन्तर उससे अन्य विषयो की ओर झुकता है, और उन्हींपर जमने का प्रयत्न करता है...वह तारों की प्रतिस्पर्धा को देखकर उसी मे अपने को भुला रही है—भुलाने का यत्न कर रही है ..

उसका जीवन भी एक अनन्त प्रतिस्पर्धा ही रहा है—एक प्रतियोगिता, जिसमे वह अकेली हो रही है और वह सान्ध्यतारे को देखकर सोच रही है कि इस द्वन्द्वपूर्ण संसार में भी मैं कितनी सुखी रही हूँ ! प्रकृति मे लड़ाई ही लड़ाई, संहार ही संहार है ; किन्तु वह कितना निर्मल है—उसपर कैसी विराट् नैसर्गिक भव्यता छाई हुई है, जिसके सौन्दर्य मे हम सुखी हो सकते हैं मै अपने इस संसार में सुखी थी—इस छोटे-से संसार मे, जो कि उसी साम्राज्य का एक अंश है जिसके विरुद्ध मेरा भाई लड़ता है, जिसके विनाश पर वह तुला हुआ है...वह क्यों लड़ता है ? क्यों सुखी नहीं हो सकता ? इसमें उसका दोष है या राज्य का ? यह उसकी प्रकृति का विकार है या राजत्व में अन्तर्हित कोई प्रगूढ़ न्यूनता ? यदि लोगो की आत्माएँ अपने को सौन्दर्य से घिरा पाकर भी सुखी नही होती, केवल इसलिए कि उनके शरीर पर एक अपर शक्ति का बन्धन—राज्य—है, तो यह उनकी कमी है या उनके ऊपर के राजत्व की ?

यह आकाश के असंख्य तारों की जो टिमटिमाहट है, यह

क्या अपने अस्तित्त्व का उन्मत्त उल्लास है, या विद्रोह की जलन ?

शायद दोनो !

लूनी को याद आया, यही एक दिन उसके भाई ने कहा था . उसकी स्मृति के पीछे जिन वचनों की छाया चिरकाल से नाच रही थी, जिन शब्दो का अभिप्राय वह अभी तक नही समझ पाई थी, वे एकाएक सामने आ गए, उसकी समझ में समा गए ..'सुख या दुःख ऐसे नही होते। राज्य—बाह्य नियन्त्रण—सुख भी नहीं देता, दुःख भी नही देता। इन दोनों का उद्भव मनुष्य के भीतर छिपी किन्ही आन्तरिक शक्तियो से होता है। राज्य तो केवल एक शक्ति का ज्ञान देता है. एक भावना को जगाता है, एक उत्तरदायित्त्व की संज्ञा को चेता देता है . फिर वह दायित्व राज्य के संघटन मे पूर्ण होता है, या उसके विरोध में, इसका निर्णय करनेवाली परिस्थितियाँ राज्य के नियन्त्रण मे न कभी आई है, न कभी आएँगी ..मुझमें, हममें, वह दायित्त्व जागा है, पर उसे चुकाने के लिए हमारे पास साधन नहीं, उसके पोषण के लिए सामग्री नही, इसलिए हम दुखी और अशान्त है, इसीलिए लड़ते है और लड़ना चाहते है ..'

ये निर्णय करनेवाली शक्तियाँ क्या हैं ? क्या उसके हृदय में स्वार्थ था, जिसके लिए वह लड़ा ? जिसके लिए वह आज प्राणदण्ड का भागी हुआ ?

ऐसे खिचाव के समय इस घोर एकान्त ने लूनी को उद्भ्रान्त

कर दिया था—या शायद उसकी सूक्ष्म-बुद्धि को और भी पैना कर दिया था। सूर्यास्त के पट पर उसने देखा, उसके भाई के कार्यों का एक प्रमुख कारण वह स्वयं थी। उसके भाई के आदर्शों का एक स्रोत उसके लिए सुख-कामना थी! क्यों? क्या वह ऐसे विद्रोह द्वारा सुख प्राप्त करना चाहती थी—प्राप्त कर सकती थी? क्या भाई को खोकर उसे सुख मिलेगा? नहीं, पर उसके भाई ने जो-कुछ देखा, वह उसके दृष्टिकोण से नहीं, अपने दृष्टिकोण से देखा—या शायद देखा ही नहीं, केवल एक चिरन्तन सहजबोध के कारण अनुभव किया, ऐसे सहजबोध के कारण, जो उसकी वसीयत में अत्यन्त प्राचीन काल से था—उस समय से, जब कि पृथ्वी पर मानव-जाति का अस्तित्व ही नहीं था, उसके पुरखा वनमानुषों का भी नहीं, जब विवाह में जाति और वर्ण-विभेद नहीं थे, जब 'पति-पत्नी' और 'भाई-बहन' एक ही स्वरचनात्मक आर्थिक क्रिया की दो कलाएँ थीं ..

लूनी ने भी यह सब अपनी बुद्धि से नहीं, एक सहज चेतना से ही अनुभव किया, और यह अनुभव उसके बौद्धिक क्षेत्र में नहीं आ पाया, उसकी बुद्धि केवल एक ही निरर्थक-सी बात कहकर रह गई—'वह विद्रोही है...' कुछ-एक दिनों के बौद्धिक शासन के इस निर्णय के आगे उसकी चिरन्तन अराजकता से उत्पन्न वह पहली अनुभूति व्यक्त न हो पाई

'वह विद्रोही है, और कुछ काल में वह मूर्त्तिमान विद्रोह होकर मर जायगा'...

लूनी अपनी थकी हुई, झुकी हुई गर्दन उठाकर आकाश की ओर देखने लगी। उसकी प्रगाढ़ नीलिमा को बाँधनेवाली आकाशगंगा का धुँधलापन भी चमक रहा था ..यह आकाशगंगा है, या प्रकृति के उत्तप्त आँसू-भरे हृदय की भाप, या विश्वपुरुष के गले में फाँसी...

रात ! तारे—तारे—तारे ! लूनी के मन में एक विचार उठा, मैं इन्हें देख रही हूँ, वह भी एक बार तो इन्हें देख ही लेगा और पहाड़ों की याद कर लेगा...तारे क्षण-भर झपक लेंगे; जब जागेंगे, तब मैं इन्हें अपलक ही देख रही हूँगी, पर वह—?

एक हल्की-सी चीख, या गहरी-सी साँस...

लूनी के मन की दशा इस समय ऐसी विकृत हो रही थी कि इस अशान्तिमय विचार के बीच ही में उसे अपनी छोटी-सी लड़की—नहीं, उस सम्पन्न गूजर और लूनीकी लाशकी सन्तान—की याद आ गई, और साथ ही उसके पिता की...वे शायद इस समय लूनी को खोज रहे होंगे। बेटी अनुभव कर रही होगी, आज मुझे वह पागल प्यार देनेवाली कहाँ है ? और पिता सोच रहा होगा, उसका दिमाग़ कुछ खराब हो रहा है, वक्त-बेवक्त जंगलों में फिरती है ! जब लूनी वापस पहुँचेगी—पर लूनी तो यहीं रहेगी, वापस तो उसकी लोथ ही जायगी !—तब पिता उसकी विवशता पर अपनी भूख मिटाएगा, और बेटी अपनी विवशता के कारण भूखी रह जायगी ! और—और वह जिस के लिए लूनी आज इस चट्टान पर बैठी है, वह मर जायगा !

लूनी फिर सान्ध्यतारे की ओर देखने लगी। फिर उसका मन भागा—वर्त्तमान के विचार से दूर, भूत-काल की ओर! उस दिन की ओर, जब वह शहर मे भीख माँगते-माँगते उकताकर, शहर के अन्तिक प्रदेश में आकर किसी साल के या युकलिप्टस के वृक्ष के नीचे आ पड़ते, और पेड़ की पत्तियो मे अपने परिचित वनों की सृष्टि किया करते ..उस दिन की ओर, जब वे एकाएक, मूक संकेत मे ही एक दूसरे के हृदय की प्यास को समझकर, एक दूसरे का हाथ थामे शहर से निकल पड़े अपने पहाड़ो के पथ पर... उस दिन की ओर, जब न-जाने कहाँ से पकड़कर उसका भाई एक सुन्दर जल-मुरग़ावी लाया, और लूनी का करुण अनुरोध, 'इसे छोड़ दो!' सुनकर क्षण-भर विस्मित रह गया, और फिर उसे उड़ाकर धीरे-धीरे हँसने लगा . उस दिन की ओर, जब न-जाने कैसे दोनों को एकाएक अपने पुरुषत्त्व और स्त्रीत्व का ज्ञान हुआ, दोनो अपने-अपने अकेलेपन का अनुभव करके जोर से चिपटकर गले मिले और फिर लज्जितसे होकर अलग हो गए ..उस दिन की ओर, जब भाई ने आकर उल्लास-भरे स्वर में कहा, 'देख, लूनी, मै कविता लिखकर लाया हूँ!' और उसके विस्मित प्रश्न का उत्तर दिए बिना ही गाने लगा.. उस दिन की ओर, जब उसने कहा, 'लूनी, अब मै बहुत कुछ पढ़ गया हूँ, अब मै तुम्हें सुखी करने के लिए लड़ूँगा' और रात मे लापता हो गया...इसके बरसों बाद के उस दिन की ओर, जब उसके 'पति' ने उसे एक पत्र लाकर दिया और उपेक्षा से

पूछा, 'तेरा कोई भाई भी है ? उसी का है !' और उसके पूछने पर कि पत्र से क्या है, इतना-भर बता दिया कि वह आएगा...उस दिन की लज्जा और ग्लानिकी ओर. जिस दिन वह अपने भाई के सामने न हो सकी, और वह बाहर ही से लौटकर चला गया... उस दिन की ओर, जब वह चट्टान पर उसकी गोद में सिर रखकर बरसों से जोड़ा हुआ कलुष धो आई उस दिन की ओर, जब वह फिर विदा लेकर चला गया, लूनी को सुखी करने के लिए .. उस भयंकर दिन की ओर, जिसमे लूनी से किसी ने कहा कि उसका भाई पकड़ा गया है और यह नहीं बता सका कि कहाँ और किस जुर्म मे...उस दिन की ओर, जब उसका घोर अनिश्चय दूर करने को समाचार आया यह कि भाई को प्राण-दण्ड की आज्ञा हुई है...उस दिन को ओर, जब उसे भाई का अपने हाथों लिखा पत्र आया, जिसे उसने कई बार पढ़ाकर सुना, और कण्ठस्थ करके भी पूरा नहीं समझ पाई...और अन्त मे, वामन अवतार के पग की तरह, सम्पूर्ण सृष्टि को रौंदकर, उसके हृदय के कोमलतम अंश पर, जहाँ उसने भाई के जीवन की स्मृति को छिपा रखा था—उसी जीवन की, जो अभी थोड़ी देर में नष्ट हो जायगा और अपनी स्मृतियो को बिखेर जायगा, जिसका स्थान शीघ्र ही अनभरे आँसू ले लेगे ..

लूनी की दृष्टि एक बार चारों ओर घूमकर लूनी के आसपास बिखरी हुई विभिन्न फूलो की रूपराशि और गंध को, नदी पर थिरकते हुए धुँधले से आलोक को, तलहटी के चीड़ वृक्षो से उठती

हुई अज्ञात साँसों को, सामने के पहाड़ पर काँपती हुई बीन की तान को और पहाड़ की स्निग्ध श्यामता को, पी गई ; फिर एक अव्यक्त प्रश्न से भरी हुई वह दृष्टि उठी सान्ध्यतारे की ओर, और फिर आकाश की शून्य विशालता की ओर . उसका वह अव्यक्त प्रश्न एक थरथराती हुई प्रतीक्षा-सा बन गया

आकाश मे दो बड़े-बड़े सफेद आकार चले जा रहे थे—शायद बगुले पर इनके पंख कितने बड़े-बड़े जान पड़ते है—जैसे सारस के हों...

और उनकी गति कितनी प्रशान्त . मानो मृत्यु की तरह, मानो जीवन के अवसान की तरह, निःशब्द...

नीचे गाँव में से कही घण्टा खड़कने की ध्वनि आई...लूनी तनकर बैठ गई ; उसकी ऐन्द्रिक चेतना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई, किन्तु साथ ही उनके आगे, लूनी के शरीर-भर मे, अँधेरा भर गया...

तलहटी में कही चौंककर फटी हुई वेदना के स्वर में टिटिहरी रोई, 'चीन्हूँ ! चीन्हूँ !' मानो अपने घोंसले पर काँपती हुई अज्ञात छाया को देखकर, एकाएक भयभीत वात्सल्य और स्वरक्षात्मक साहस से भरकर तड़प उठी हो और उस छाया को ललकार रही हो ..

लूनी का शरीर, उसकी आत्मा, शिथिल होकर झुक गई . उसे जान पड़ा, एक निराकार छाया उसके पास खड़ी है और

उसे स्पर्श कर रही है—उसे जान पड़ा, वहाँ कुछ नहीं है, वह अकेली हो गई है, लुट गई है, क्वारी ही विधवा हो गई है...

उसने देखा, शून्य मे आकाशगंगा—विश्वपुरुष के गले की फाँसी—को छूती हुई पताका ही उसकी एकमात्र सहचरी रह गई है

—

अमरवल्लरी

An aristocrat must do without close personal love.

—*H. G Wells.*

वीणा-वादिनी

शारदा

को

देहली जेल

अक्तूबर, १९३१

मै दीर्घायु हूँ, चिरजीवी हूँ; पर यह बेल, जिसके पाशो में मेरा शरीर, मेरा अंग-अंग बँधा हुआ है, यह वल्लरी क्षयहीन है, अमर है।

मैं न-जाने कब से यहीं खड़ा हूँ—अचल, निर्विकार, निरीह खड़ा हूँ। न-जाने कितनी बार शिशिर ऋतु मे मैंने अपनी पर्ण-हीन अनाच्छादित शाखाओ से कुहरे की कठोरता को फोड़कर अपने नियन्ता से मूक प्रार्थना की है; न-जाने कितनी बार ग्रीष्म में मेरी जड़ो के सूख जाने से तृषित सहस्त्रों पत्र-रूप चक्षुओ से मै आकाश की ओर देखा किया हूँ; न-जाने कितनी बार हेमन्त के आने पर शिशर के भावी कष्टों की चिन्ता से मै पीला पड़ गया हूँ; न-जाने कितनी बार वसन्त, उस आह्लादक, उन्मादक वसन्त में, नीबू के परिमल से सुरभित समीर में मुझे रोमाञ्च हुआ है और लोमवत् मेरे पत्तों ने कम्पित होकर स्फीत सरसर ध्वनि करके अपना हर्ष प्रकट किया है! इधर कुछ दिनो से मेरा शरीर क्षीण हो गया है, मेरी त्वचा में झुर्रियाँ पड़ गई है, और शारीरिक अनुभूतियो के प्रति मैं उदासीन हो गया हूँ। मेरे पत्ते झड़ गए हैं, ग्रीष्म और शिशिर दोनों ही को मै उपेक्षा की दृष्टि से देखता हूँ। किन्तु वसन्त! न-जाने उसके ध्यान मे ही कौन-सा जादू है, उसकी स्मृतिमात्र मे कौन-सी शक्ति है, कि मेरी इन सिकुड़ी हुई धमनियो में भी नए संजीवन का संचार होने लगता

है, और साथ ही एक लालसामय अनुताप मेरी नस-नस में फैल जाता है...

वसन्त...उसकी स्मृतियों में सुख है और कसक भी। जब मेरे चारों ओर क्षितिज तक विस्तृत उन अलसी और पोस्त के फूलों के खेत एक रात-भर ही मे विकसित हो उठते थे, जब मैं अपने आप को सहसा एक सुमन-समुद्र के बीच में खड़ा हुआ पाता था, तब मुझे ऐसा भास होता था, मानो एक हरित समुद्र की नीलिमामय लहरों को वसन्त के अंशुमाली की रश्मियों ने आरक्त कर दिया हो। मेरा हृदय आनन्द और कृतज्ञता से भर जाता था। पर उस कृतज्ञता में सन्तोष नहीं होता था, उस आनन्द से मेरे हृदय की व्यथा दबती नहीं थी। मुझे उस सौन्दर्यच्छटा मे पड़कर एकाएक अपनी कुरूपता की याद आ जाती थी, एक जलन मेरी शान्ति को उड़ा देती थी...

कल्पना की जड़ मन की व्यथा में होती है। जब मुझे अपनी कुरूपता के प्रति ग्लानि होती, तब मै एक संसार की रचना करने लगता—ऐसे संसार की, जिसमे पीपल के वृक्षों मे भी फूल लगते हैं...और एक रंग के नहीं, अनेक रंगो के, जिसमे शाखें जगमगा उठें! एक शाखा मे सहस्रदल शोण-कमल, दूसरी पर कुमुद, तीसरी पर नील-नलिन, चौथी पर चम्पक, पाँचवी पर गुलाब, और सब ओर, फुनगियों तक पर, नाना रंगो के अन्य पुष्प—कैसी सुखद थी वह कल्पना! पर अब उस कल्पना की स्मृति से क्या लाभ है? अब तो मैं बूढ़ा हो गया हूँ, और रक्तबीज की

तरह अच्चय यह वेल मुझ पर पूरा अधिकार जमा चुकी है। मैं विराट् हूँ, अचल हूँ ; किन्तु मेरी महत्ता और अचलता ने ही मुझे इस अमरवल्लरी के सूक्ष्म, चञ्चल तन्तुओ के आगे इतना निस्सहाय बना दिया ! किसी दिन वह कृशतनु, पददलिता थी, और आज यह मुझे बाँधकर, घोंटकर, झुकाकर, अपनी विजय-कामना पूरी करने की ओर प्रवृत्त हो रही है !

कैसे सुदृढ़ है इसके बन्धन ! कितने दारुण, कितने उग्र ! लालसा की तरह अदम्य, पीड़ा की तरह असह्य, दावानल की की तरह उत्तप्त, ये बन्धन मेरे निर्बल शरीर को घोंटकर उसकी स्फूर्ति और संजीवन को निकाल देना चाहते है। और मैं, निराश और मुमूर्षु मै, स्मृतियो के बोझ से दिक्पालों की तरह दबा हुआ मैं, चुपचाप उसकी कामना के आगे धीरे-धीरे अपना अस्तित्व मिटा रहा हूँ...

फिर भी कभी-कभी ..ऐसा अनुभव होता है कि इस वल्लरी के स्पर्श में कोई लोमहर्षक तत्त्व है ..जिस प्रकार कोई पुरानी, विस्मृत तान संगीतकार के स्पर्श-मात्र से सजग, सजीव हो उठती है, जिस प्रकार बूढ़ा, शुभ्रकेश, मृयमाण शिशिर, वसन्त का सहारा पाकर चणभर के लिए फिर दीप्त हो उठता है, जिस प्रकार तरुणी के अन्ध-विश्वास पूर्ण, कोमल, स्निग्ध प्रेम मे पड़ कर बूढ़े के हृदय मे गुदगुदी होने लगती है, नई कामनाएँ उदित हो जाती हैं—उसी प्रकार मेरे शरीर मे, मेरी शाखाओ में, मेरे पत्तों मे, मेरे रोम-रोम मे इसका विलुलित स्पर्श, एक स्नेहमय जलन

का, एक दीप्तिमय लालसा का, एक अननुभूत, अकथ, अविश्लिष्ट, उन्मत्त प्रेमोल्लास का संचार कर देती है। मैं सोचने लगता हूँ कि अगर मेरी शाखें भी उतनी ही लचकदार होतीं, जितनी इस अमर-बेल की हैं, तो मैं स्वयं उसके आश्लेषण को दृढ़तर कर देता, उसके बन्धन को स्वयं कस देता! पर विश्वकर्मा ने मुझे ऐसा निकम्मा बना दिया—मैं प्रेम पा सकता हूँ, दे नहीं सकता; प्रेम-पाश में बँध सकता हूँ, बाँध नहीं सकता; प्रेम की प्रस्फुटन-चेष्टा समझ सकता हूँ, व्यक्त नहीं कर सकता। जब प्रेम-रस में मैं विमुग्ध होकर अपने हृदय के भाव व्यक्त करने की चेष्टा करता हूँ, तब सहसा मुझे अपनी स्थूलता, अचलता का ज्ञान होता है, और मेरी वे चिर-विचारित, चिर-निर्दिष्ट, अदमनीय चेष्टाएँ जड़ हो जाती हैं, मेरे संभ्रम का एकमात्र चिह्न वह पत्तों का कम्पन ही रह जाता है, मेरी आकुलता की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन उनका कोमल सरसर शब्द ही रह जाता है। इतना भीमकाय होकर भी एक लतिका के आगे मैं कितना निस्सहाय हूँ!

वसन्त, सुमन, पराग, समीर, रसोल्लास . कैसा संयोग होता है! पर अब, अपने जीवन के हेमन्त-काल में, क्यों मैं वसन्त की कल्पना करता हूँ? अब वे सब मेरे जीवन में नहीं आ सकते, अब मैं एक और ही संसार का वासी हो गया हूँ, जिसमें सुमन नहीं प्रस्फुटित होते, स्मृतियाँ जागती हैं; जिसमें मदालस नहीं, विरक्ति-शैथिल्य भरा हुआ है! मेरे चारों ओर अब भी वसन्त में अलसी और पोस्त के फूल खिलते हैं, हँसते हैं, नाचते

है, फिर चले जाते हैं। मेरा हृदय उमड़ आता है; पर उसमें अनु-रक्ति नहीं होती, उस सौन्दर्य-समुद्र के मध्य में खड़ा होकर भी मैं अपनी सुदूरता का ही अनुभव करता हूँ, मानो आकाश-गंगा का ध्यान कर रहा होऊँ! जिस सृष्टि से मैं अलग हो गया हूँ, उसकी कामना मैं नहीं करता, उसमें भाग लेने की लालसा मेरे हृदय में नहीं होती। मेरा स्थान एक दूसरे ही युग मे है, और उसी का प्रत्यावलोकन मेरा आधार है, उसी की स्मृतियाँ मेरा पोषण करती हैं।

यह वल्लरी अमर है, अनन्त है। जब मै गिर जाऊँगा, तब भी शायद यह मेरे शरीर पर लिपटी रहेगी और उसमें बची हुई शक्ति को चूसती रहेगी।

पर जब इसका अंकुर प्रस्फुटित हुआ था, तब मै क्षीण नहीं था। मेरे सुगठित शरीर मे ताज़ा रस नाचता था; मेरा हृदय प्रकृति-सङ्गीत में लवलीन होकर नाचता था; मै स्वयं यौवन-रंग मे प्रमत्त होकर नाच रहा था ..जब मेरी विस्तृत जड़ों के बीच मे कहीं से इसका छोटा-सा अंकुर निकला, उसके पीले-पीले, कोमल, तरल तन्तु इधर-उधर सहारे की आशा से फैले और कुछ न पाकर मुरझाने लगे, तब मैंने कितनी प्रसन्नता से इसे शरण दी थी, कितना आनन्द मुझे इसके शिशुवत् कोमल प्रथम स्पर्श से हुआ था! उस समय शायद वात्सल्य-भाव ही मेरे हृदय मे सर्वोपरि था, पर फिर, जब वह बढ़ने लगी, जब उसके शरीर में एक नई आभा आ गई, तब उसके स्पर्श मे वह सरलता, वह

स्नेह नही रहा, उसमे एक नूतनता आविर्भूत हुई, एक विचित्र भाव आ गया, जिसमे मेरी स्वतन्त्रता नही रही। जब भी मैं कुछ सोचना चाहता, उसी का ध्यान आ जाता। उस ध्यान में लालसा थी, और साथ ही कुछ लज्जा-सी ; स्वार्थ था और साथ ही उत्सर्ग हो जाने की इच्छा ; तृष्णा थी और साथ ही तृप्ति भी ; ग्लानि थी और साथ ही अनुरक्ति भी ! जिस भाव को आज मैं पूरी तरह समझ गया हूॅ, उसका मुझे उन दिनो आभास भी नही हुआ था। उन दिनो इस परिवर्त्तन पर मुझे विस्मय ही होता रहता था—और वह विस्मय भी आनन्द से, ग्लानि से, लालसा से, तृप्ति से, परिपूरित रहता था !

मेरे चरणों के पास एक छोटा-सा चिकना पत्थर पड़ा हुआ था, जिसमे गॉव की स्त्रियॉ आकर सिन्दूर और तेल का लेप किया करती थी। कभी-कभी वे अपने कोमल हाथों से सिन्दूर का एक लम्बा-सा टीका मेरे ऊपर लगा देती थी, कोई-कोई युवती आकर सहज स्वभाव से मेरे दोनो ओर बॉहें फैलाकर मेरे इस कुडौल शरीर से अंक भर लेती थी, कोई-कोई मेरा गाढ़ालिङ्गन करके अपने कपोल मेरी कठिन त्वचा से छुआकर कुछ देर चुपचाप आँसू बहाकर चली जाती थी—मानो उसे कुछ सान्त्वना मिल गई हो। पर मानव-संसार की उन सुकोमल लतिकाओं के स्पर्श में, उनके परिष्वंग में, मुझे आसक्ति नही थी। कभी-कभी, जब कोई सरला अभागिनी मुझे अपनी बॉहो से घेरकर दीन स्वर से कहती, "देवता, मेरी इच्छा

कब पूरी होगी ?" तब मैं दयार्द्र हो जाता, और अपने पत्ते हिला कर कुछ कहना चाहता। न-जाने वे मेरा इंगित समझती या नहीं। न-जाने उन्हे कभी मेरी कृतज्ञता का ज्ञान होता या नही। मैं यही सोचता रहता कि अगर मै नीरस पीपल न होकर अशोक वृक्ष होता, तो अपनी कृतज्ञता तो जता सकता, उन प्रेम-विह्वलाओं के स्पर्श से पुष्पित हो, पुष्प-भार से झुककर उन्हे नमस्कार तो कर सकता! पर मै यह सोचता हुआ मूक ही रह जाता, और वे चली जातीं!

पर उनके स्पर्श से मुझे रोमाञ्च नही होता था, मै अपने शिखर से जड़ों तक काँपने नहीं लगता था। कभी-कभी, जब कोई स्त्री आकर मेरी आश्रिता इस अमरवल्लरी के पुष्प तोड़कर मेरे पैरों में डाल देती, तब मेरे मर्म पर आघात पहुँचता था, पर उससे मुझे जितनी व्यथा होती, जितना क्रोध आता, उसे भी मै व्यक्त नहीं कर पाता था। मै विश्वकर्मा से मूक प्रार्थना करने लगता—विश्वकर्मा मूक प्रार्थना भी सुन लेते हैं—कि उस स्त्री को भी वैसी ही दारुण वेदना हो! वह मुझे देवता मानकर पुष्पो से पूजा करती थी, और मै उसके प्रति इतनी नीच कामना करता था—किन्तु प्रेम के प्रमाद मे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है!

कैसा विचित्र था वह प्रेम! अगर मै जानता होता! अगर मै जानता होता!

किन्तु क्या जानकर इस जाल में न फँसता? आज मैं

जानता हूँ, फिर भी तो इस वल्लरी का मुझ पर इतना अधिकार है, फिर भी तो मैं इसके स्पर्श से गद्‌गद हो उठता हूँ!

प्रेम आईने की तरह स्वच्छ रहता है, प्रत्येक व्यक्ति उसमें अपना ही प्रतिबिम्ब पाता है, और एक बार जब वह खण्डित हो जाता है, तब जुड़ता नहीं। अगर किसी प्रकार निरन्तर प्रयत्न से हम उसके भग्नावशिष्ट खण्डों को जोड़कर रख भी लें, तो उसमें पुरानी कान्ति नहीं आती। वह सदा के लिए कलङ्कित हो जाता है। स्नेह अनेकों चोटें सहता है, कुचला जाकर भी पुनः उठ खड़ा होता है, किन्तु प्रेम में अभिमान बहुत अधिक होता है, वह एक बार तिरस्कृत होकर सदा के लिए विमुख हो जाता है। आज इस वल्लरी के प्रति मेरा अनुराग बहुत है, पर उसमें प्रेम का नाम भी नहीं है—वह स्नेह का ही प्रतिरूप है। वह विह्वलता प्रेम नहीं है, वह प्रेम की स्मृति की कसक ही है!

अपने इस प्रेम के अभिनय का जब मैं प्रत्यावलोकन करता हूँ, तब मुझे एक जलन-सी होती है। प्रेम से मुझे जो आशा थी, वह पूर्ण नहीं हुई, और उसकी अपूर्त्ति के लिए मैं किसी प्रकार भी दोषी नहीं था। मुझे यही प्रतीत होता है कि नियन्ता ने मेरे प्रति, और इस लता के प्रति, और उन अबोध स्त्रियों के प्रति जो मुझे देवता कहकर सम्बोधित करती थीं, न्याय नहीं किया। निर्दोष होते हुए भी हम अपने किसी अधिकार से, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, वंचित रह गए। जब इस भाव से, इस प्रवंचना के ज्ञान से, मैं उद्विग्न हो जाता हूँ, तब मुझे

इच्छा होती है कि मैं वृक्ष न होकर मानव होता। इस तरह एक ही स्थान में बद्ध होकर न रहता, इधर-उधर घूमकर अपने प्रेम को व्यक्त कर सकता, और—और इस तरह भुजहीन, असहाय न होता!

किन्तु क्या मानव-हृदय मेरी संज्ञा से इतना भिन्न है? क्या मानवों के प्रेम में और मेरे में इतनी असमानता है? क्या मानव में भी हमारी तरह मूक वेदनाएँ नहीं होती, क्या उनमे भी प्रेम के अंकुर का अँधेरे में ही प्रस्फुटन और विकसन और अवसान नही हो जाता? क्या वे प्रेम-विह्वल होकर अपने-आप को अभिव्यक्ति के सर्वथा अयोग्य नहीं पाते, क्या उनमें लज्जा अनुरक्ति का और ग्लानि लालसा का अनुगमन नहीं करती? वे मानव हैं, हम वनस्पति; वे चलायमान हैं, हम स्थिर; पर साथ ही हम उनकी अपेक्षा बहुत दीर्घजीवी हैं, और हमारी संयम-शक्ति भी उनसे बहुत अधिक बढ़ी-चढ़ी है। उनका प्रेम सफल होकर भी शीघ्र समाप्त हो जाता है, और हममे प्रेम की जलन ही कितने वर्षों तक कसकती रहती है।

बहुत दिनों की बात है। उन दिनो मुझे इस वल्लरी के स्पर्श मे मादकता का भास हुआ ही था, इसके आलिंगन से गुदगुदी होनी आरम्भ ही हुई थी। उन दिनो मै उस नए प्रेम का विकास देखने और समझने मे ही इतना व्यस्त था कि आसपास होनेवाली घटनाओ में मेरी आसक्ति बिल्कुल नही थी, कभी-कभी विमनस्क होकर मै उन्हे एक आँख देख भर लेता था। वह जो बात मै

कहने लगा हूँ, उसे मैं नित्यप्रति देखा करता था, किन्तु देखते हुए भी नहीं देखता था। और जब वह बात खत्म हो गई, तब उसकी ओर मेरा उतना ध्यान भी नहीं रहा। पर मेरे जाने बिना ही वह मुझपर अपनी छाप छोड़ गई, और आज मुझे वह बात नहीं, उस बात की छाप ही दीख रही है। मैं मानो प्रभात में बालुकामय भूमि पर अंकित पदचिह्नों को देखकर, निशीथ की नीरवता में उधर से गई हुई किसी अभिसारिका की कल्पना कर रहा हूँ!

मेरे चरणों पर पड़े हुए उस पत्थर की पूजा करने जो स्त्रियाँ आती थीं, उनमें कभी-कभी कोई नई मूर्त्ति आ जाती थी, और कुछ दिन आती रहने के बाद लुप्त हो जाती थी। ये नई मूर्त्तियाँ प्रायः बहुत ही लज्जाशीला होतीं, प्रायः उनके मुख फुलकारी के लाल और पीले अवगुण्ठन से ढके रहते, और वे धोती इतनी नीची बाँधती कि उनके पैरों के नूपुर भी न दीख पाते! केवल मेरे समीप आकर जब वे प्रणाम करने को झुकतीं, तब उनका गोधूम-वर्ण मुख क्षणभर के लिए अनच्छादित हो जाता, क्षणभर उनके मस्तक का सिन्दूर कृष्ण मेघों में दामिनी की तरह चमक जाता, क्षणभर के लिए उनके उरपर विलुलित हारावली मुझे दीख जाती, क्षणभर के लिए पैरों के कंकण उद्घाटित होकर चुप हो जाते और मुग्ध होकर बाह्य-संसार की छटा को और अपनी स्वामिनियों के सौन्दर्य को निरखने लगते! फिर सब-कुछ पूर्ववत् हो जाता, अवगुण्ठन उन मुखों पर अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए उन्हें छिपाकर रख लेते, हारावलियाँ उन स्निग्ध उरों में छिपकर

सो जाती, और नूपुर भी मुँह छिपाकर धीरे-धीरे हँसने लगते...

एक वार उन नई मूर्त्तियों में एक ऐसी मूर्त्ति आई, जो अन्य सभी से भिन्न थी। वह सब की आँख बचाकर मेरे पास आती और शीघ्रता से प्रणाम करके चली जाती, मानो डरती हो कि कोई उसे देख न ले। उसके पैरों में नूपुर नहीं बजते थे, गले में हारावली नहीं होती थी, मुख पर अवगुण्ठन नहीं होता था, ललाट पर सिन्दूर-तिलक नहीं होता था। अन्य स्त्रियाँ रंग-बिरंगे वस्त्राभूषण पहनकर आती थीं, वह शुभ्रवसना थी। अन्य स्त्रियाँ प्रातःकाल में आती थी; पर उसका कोई निर्दिष्ट समय नहीं था। कभी प्रातःकाल, कभी दिन में, कभी सन्ध्या को वह आती थी... जिस दिन उसका आना सन्ध्या को होता था, उस दिन वह प्रणाम और प्रदक्षिणा कर लेने के बाद मेरे पास ही इस अमर-वल्लरी का सहारा लेकर भूमि पर बैठ जाती, और बहुत देर तक अपने सामने सूर्यास्त के चित्र-विचित्र मेघसमूहों को, अलसी और पोस्त के पुष्पमय खेतों को, और गाँव से आनेवाले छोटे-से धूल से भरे पथ को देखती रहती. उसके मुख पर अतीत स्मृति-जनित वेदना का भाव व्यक्त हो जाता, कभी-कभी वह एक दीर्घ निःश्वास छोड़ देती ... उस समय सहानुभूति और समवेदना मे पत्ते भी सरसर ध्वनि कर उठते . . वह कभी कुछ कहती नही थी, कभी कोई प्रार्थना नहीं करती थी। मुझे चुपचाप प्रणाम करती और चली जाती— या वहीं बैठकर किसी के ध्यान में लीन हो

जाती थी। उस ध्यान में कभी-कभी वह कुछ गुनगुनाती थी, पर उसका स्वर इतना अस्पष्ट होता था कि मैं पूरी तरह समझ नहीं पाता था।

पहले मेरा ध्यान उसकी ओर नहीं जाता था; किन्तु जब वह नित्य ही गोधूलि-वेला मे वहाँ आकर बैठने लगी, तब धीरे-धीरे मैं उसकी ओर आकृष्ट होने लगा। जब सूर्य की प्रखरता कम होने लगती, तब मै उसकी प्रतीक्षा करने लग जाता था— कभी अगर उसके आने मे विलम्ब हो जाता, तो मै कुछ उद्विग्न-सा हो उठता ..

एक दिन वह नही आई। उस दिन मै बहुत देर तक उसकी प्रतीक्षा करता रहा। सूर्यास्त हुआ, अँधेरा हुआ, तारे निकल आए, आकाश-गंगा ने गगन को विदीर्ण कर दिया, पर वह नहीं आई।

उसके दूसरे दिन भी नही, तीसरे दिन भी नहीं— बहुत दिनों तक नही। तब मैंने उसकी प्रतीक्षा करनी छोड़ दी, तब सन्ध्याके एकान्त में मै अपनी उद्भ्रान्त मनोगति को इस अमरवल्लरी की ओर ही प्रवृत्त करने लगा ..

जब मै उसे बिल्कुल भूल गया, तब एक दिन वह सहसा आ गई। वह दिन मुझे भली प्रकार याद है। उस दिन आँधी चल रही थी, काले-काले बादल घिर आए थे, ठंड ख़ूब हो रही थी। मै सोच रहा था कि वर्षा आएगी, तो अमरवल्लरी की रक्षा कैसे करूँगा। एकाएक मैंने देखा, उस धूलधूसर पथ पर वह चली आ

रही थी। वह अब भी पहले की भाँति अनंलकृत थी, उसका शरीर अब भी श्वेत वस्त्रों से आच्छादित था; पर उसकी आकृति वदल गई थी, उसका सौन्दर्य लुप्त हो गया था। उसके शरीर में काठिन्य आ गया था, मुख पर झुर्रियाँ पड़ गई थी, आँखे धँस गई थीं, ओठ ढीले होकर नीचे लटक गए थे। जब उस पहली मूर्ति से मैंने उसकी तुलना की, तो मेरा अन्तस्तल काँप गया। पर मै चुपचाप प्रतीक्षा मे खड़ा रहा। उसने मेरे पास आकर मुझे प्रणाम नहीं किया, न इस वल्लरी का सहारा लेकर बैठी ही। उसने एक बार चारो ओर देखा, फिर बाँहे फैलाकर मुझसे लिपट गई और फूट-फूटकर रोने लगी। उसके तप्त आँसू मेरी त्वचा को सींचने लगे ..

मैंने देखा, वह एकवसना थी, और वह वस्त्र भी फटा हुआ था। उसके केश व्यस्त हो रहे थे, शरीर धूल से भरा हुआ था, पैरों से रक्त बह रहा था ..

वह रोते-रोते कुछ बोलने भी लगी .

"देवता, मैं पहले ही परित्यक्ता थी, पर मेरी बुद्धि खो गई थी! मैं जहाँ गई, वही तिरस्कार पाया; पर फिर भी तुम्हारी शरण छोड़ गई! मै कृतघ्ना थी, चली गई। किस आशा से? प्रेम—धोखा—प्रवंचना! प्रतारणा! उस छली ने मुझे ठग लिया, फिर—फिर— देवता, मै पतिता, भ्रष्टा, कलंकिनी हूँ। मुझे गाँव के लोगो ने मारकर निकाल दिया, अब मै— मै निर्लज्जा हूँ! अब

तुम्हारी शरण आई हूँ, अकेली नहीं, कलंक के भार से दवी हुई, अपनी कोख में कलंक धारण किए हुए !"

उसका वह रुदन असह्य था, पर हम को विश्वकर्मा ने चुपचाप सभी कुछ सहने को वनाया है !

मुझ पर उसका पाश शिथिल हो गया, उसके हाथ फिसलने लगे, पर उसकी मूर्छा दूर नहीं हुई। रात वहुत वीत गई, उसका संज्ञा-शून्य शरीर काँपने लगा, फिर अकड़ गया ..वह मूर्छा मे ही फिर वड़वड़ाने लगी :

"देवता हो ? छली ! कितना धोखा, कितनी नीचता ! प्रेम की वातें करते तुम्हारी जीभ न जल गई ! तुम्हारी शरण आऊँगी, तुम्हारी ! वह कलंक का टीका नहीं है, मेरा पुत्र है ! तुम नीच थे, तुमने मुझे अलग कर दिया। वह मेरा है, तुम्हारे पाप से क्यों कलंकित हो गया ? तुम देवता हो देवता। मै तुम्हारी शरण से भाग गई थी। पर वह पाप—उसमें तो मेरा भी हाथ था ? तुम्हारी शरण में मुझे शान्ति मिलेगी ! मै ही तो उसके पास गई थी—कलंकिनी ! पर वह अवोध शिशु तो निर्दोप है, वह क्यों जलेगा ? क्यों काला होगा ? देवता, तुम वड़े निर्दय हो। उसे छोड़ देना ! मै मरूँगी, जलूँगी, पर वह वचकर कहाँ जायगा ! देवता, देवता, तुम उसका पोपण करना !"

उसके शरीर का कम्पन बन्द हो गया, प्रलाप भी शान्त हो गया—पर कुछ ही देर के लिए !

धीरे-धीरे तारागण का लोप हो गया, आकाश-गंगा भी छिप

गई। केवल पूर्व में एक प्रोज्ज्वल तारा जगमगाता रह गया। पवन की शीतलता एकाएक बढ़ गई, अंधकार भी प्रगाढ़तर हो गया... उस महाशान्ति में एकाएक उसके शरीर में संजीवन आ गया, वह एक हृदय-विदारक चीख़ मारकर उठी, उठते ही उसने अपने एकमात्र वस्त्र को फाड़ डाला। फिर वह गिर गई, उसके अंगों के उत्क्षेप बन्द हो गए, उसका शरीर शिथिल, निस्पन्द हो गया...

जब सूर्य का प्रकाश हुआ, तब मैंने देखा, वह मेरे चरणों मे पड़ी है, उसका विवस्त्र और संज्ञाहीन शरीर पीला पड़ गया था, और उसके अंग नीले पड़ गए थे ..उसके पास ही उसका फटा हुआ एकमात्र वस्त्र रक्त से भीगा हुआ पड़ा था—और उसके ऊपर एक मलिन, दुर्गन्धिमय मांसपिंड . और वर्षा के प्रवाह में वह रक्त धुलकर, बहकर बहुत दूर तक फैलकर कीचड़ को लाल कर रहा था ..

कैसी भैरव थी वह आहुति !

क्या यही है मानवों का प्रेम ?

शायद मेरी धारणा ग़लत है। शायद मेरे अपने प्रेम की उच्छृंखलता ने मेरी कल्पना को भी उद्भ्रान्त कर दिया है। मानव अल्पायु होकर भी इतने नीच हो सकते है, इसका सहसा विश्वास नही होता ! पर जब मुझे ध्यान हो आता है कि मेरी जड़े दो ऐसी बलियों के रक्त से सिक्त हैं, जिनके अन्त का एकमात्र कारण यही था, जिसे वे मानव-प्रेम कहते हैं, तब मुझे मानवता के प्रति ग्लानि होने लगती है। पर उन दोनों का बलिदान प्रेम

की वेदी पर हुआ था, या इन मानवों के समाज की, या वासना की ? वह स्त्री तो वंचिता थी, उसने तो प्रेम के उत्तर में वासना ही पाई थी। पर उसका अपना प्रेम तो दूषित नहीं था, वह तो वासना की दासी नहीं थी। और समाज—समाज ने तो पहले ही उसे ठुकरा दिया था, समाज ने तो उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखा था। और उस अजात शिशु ने समाज का क्या बिगाड़ा था, वह वासना में कब पड़ा था ?

मेरे नीचे उस पत्थर की पूजा करने कितनी ही स्त्रियाँ आती थीं, वे तो सभी प्रसन्नवदना होती थीं, उनकी बात मैं क्यों सोचता ? मानव-प्रेम की असफलता का एक यही उदाहरण मैंने देखा था, उसी पर क्यो अपना चित्त स्थिर किए हूँ ? वे जो इतनी आच्छादित, अवगुण्ठित, अलंकृत चपलाएँ वहाँ आती थीं और सहज स्वभाव से, या कभी-कभी संभ्रम से, मेरे सिन्दूर-तिलक लगाती और मेरा आलिंगन कर लेती थीं, उनके प्रणय तो सभी सुखमय होते होंगे, उनका प्रेम तो इतना विमूढ़ और विवेकहीन नहीं होता होगा ? और फिर मानवो का तो प्रेम के विषय में आत्म-निर्णय करने का अधिकार होता है ? उनके जीवन में तो ऐसा नहीं होता कि विधाता—या मनुष्य ही—जिस वल्लरी को उनके निकट अंकुरित कर दें, उसी से प्रणय करने को बाध्य हो जाना पड़े ?

पर मैंने सुना है—गाँव से पूजा के लिए आनेवाली उन स्त्रियों के मुख से ही सुना है—कि उनके समाज मे भी इस प्रकार

के अनिच्छित वन्धन होते हैं। एक बार मैंने देखा भी था—देखा तो नहीं था, किन्तु कुछ ऐसे दृश्य देखे थे जिससे मुझे इसकी अनुभूति हुई थी .

कभी-कभी, सन्ध्या के पक्षिरव-कूजित एकान्त में, मुझे एकाएक इस बात का उद्बोधन होता है कि मेरा जीवन—इतना लम्बा जीवन !—व्यर्थ बीत गया . इस वल्लरी के अनिच्छित बन्धन से—पर जो मुझे पागल कर देता है, मेरे हृदय मे उथल-पुथल मचा देता है, मेरे शरीर को हर्ष और व्यथा से विह्वल कर देता है, जिससे छूट जाने की मै कल्पना भी नहीं कर सकता, उस बन्धन को अनिच्छित कैसे कहूँ ? इस उद्बोधन की उग्रता को मिटाने के लिए मै कितना प्रयत्न करता हूँ, पर वह जाती नही .. मेरे हृदय में यह निरर्थकता का ज्ञान, यह जीने की इच्छा, यह संचित शक्ति का व्यय करने की कामना, किसी और भाव के लिए स्थान ही नही छोड़ती। मै चाहता हूँ, अपने व्यक्तित्व को प्रकृति की विशालता में मिटा दूँ, इस निरर्थकता के ज्ञान को दबा दूँ और जैसा कभी अपने यौवन काल में था, वैसा ही फिर से हो जाऊँ; पर कहाँ एक बूढ़े वृक्ष की चाह और कहाँ विधाता का अमिट निर्देश ! मैं बोलना चाहता हूँ—मेरे जिह्वा नहीं है ; हिलना चाहता हूँ—मेरे पैर नही हैं ; रोना चाहता हूँ—पर उसके लिए आँखें ही नही है तो आँसू कहाँ से आएँगे मैं चाहता हूँ, किसी से प्रेम कर पाऊँ—इतना विशाल, इतना अचल, इतना चिरस्थायी प्रेम कि संसार उससे भर जाए ; पर मेरी अपनी

विशालता, मेरी अपनी अचलता, मेरा अपना स्थायित्व इस कामना से बाधा डालता है। मैं प्रेम की अभिव्यक्ति कर नहीं सकता, और जब करना चाहता हूँ, तब लज्जित हो जाता हूँ... जितना विशाल मैं हूँ, इतना विशाल ध्रुव अपने प्रेम के लिए कहाँ पाऊँ? और किसी अकिंचन वस्तु से प्रेम करना प्रेम की अवहेला है ..

यह अमरवल्लरी—इसमें स्थायित्त्व है, दृढ़ता है, पर यह चंचला भी है, और इसमे विशालता भी नहीं है—यह तो मेरे ही शरीर के रस से पुष्ट होती है !

एक स्मृति-सी मेरे अन्तःस्थल में घूम रही है, पर सामने नहीं आती, मुझे उसकी उपस्थिति का आभास ही होता है। जिस प्रकार कुहरे में जलता हुआ दीपक नहीं दीख पड़ता, पर उससे आलोकित तुषारपुंज दीखता रहता है, उसी तरह स्मृति स्वयं नहीं प्रकट होती, परन्तु स्मृति की स्मृति मेरे अन्तःस्थल में काँप रही है।

उस स्मृति का सम्बन्ध इसी प्रेम की विशालता से था, इतना मैं जानता हूँ ; पर क्या सम्बन्ध था, नहीं याद आता...

एक और घटना याद आती है, जिसने किसी समय एकाएक विद्युत की तरह मेरे हृदय को आलोकित कर दिया था—पर इतने प्रदीप्त आलोक से कि मैं बहुत देर के लिए चकाचौंध हो गया था...

उन दिनो मेरी पूजा—या मेरे चरणस्थित देवता की पूजा—नहीं होती थी। जब से वहाँ रक्त-प्रलिप्त देह और मांसपिंड

पाया गया, तब से लोग शायद मुझसे डरने लगे थे । कभी-कभी सन्ध्या को जब कोई बटोही उधर से निकलता था, तब एक बार संभ्रम से मेरी ओर देखकर जल्दी-जल्दी चलने लग जाता था। दिन में कभी-कभी लड़के उस धूल-भरे पथ मे आकर खड़े हो जाते और वहीं से मेरी ओर इंगित करके चिल्लाते, "भुतहा ! भुतहा !" मैं उनका अभिप्राय नहीं समझता था, फिर भी उनके शब्दों में उपेक्षा और तिरस्कार का स्पष्ट भाव मुझे बहुत दुःख देता था ..

क्या मानवों की भक्ति उतनी ही अस्थायिनी है, जितना उनका प्रेम ? अभी उस दिन मै गॉव के विधाता की तरह पूजित था, इतनी स्त्रियाँ मेरे चरणों में सिर नवाती थीं और प्रार्थना करती थीं, "देवता, मेरा दुःख मिटा दो !" मुझमें दुःख मिटाने की शक्ति नहीं थी, पर एक मूक सहानुभूति तो थी। मेरी अचलता उनकी मेरे प्रति श्रद्धा कम नहीं करती थी, बढ़ाती ही थी। पर जब उस स्त्री ने आकर मेरे चरणों मे अपना दुःख स्वयं मिटा लिया, तब उनके हृदय से आदर उठ गया ! इतने दिन से मै दुःख की कथाएँ सुना करता था, देखा कुछ नहीं था। उस दिन मैंने देख लिया कि मानवता का दुःख कहाँ है, पर उस ज्ञान से ही मै कलुषित हो गया ! जब मैं दुःख जानता ही नहीं था, तब इतने प्रार्थी आते थे। अब मैं जान गया हूँ, तब वे दुःख-निवारण की प्रार्थना करने नहीं आते, मेरा ही दुःख बढ़ा रहे हैं।

भक्ति तो अस्थायिनी है ही—भक्ति और प्रेम का कुछ

सम्बन्ध है। मैं अभी तक प्रेम ही को नहीं समझ पाया हूँ, यद्यपि इसकी मुझे स्वयं अनुभूति हुई है। भक्ति—भक्ति मैंने देखी ही तो है!

जब मेरे वे उन्माद के दिन बीत गए, जब मेरी त्वचा में कठोरता आने लगी, मेरी शाखाओं में गाँठें पड़ गईं, तब मुझे प्रेम का नया उद्‌बोधन हुआ। मेरे बिखरे हुए विचारों में फिर एक नए आशा-भाव का संचार हुआ, संसार मानो फिर से संगीत से भर गया.

कीर्त्ति—अच्छी या बुरी—कुछ भी नहीं रहती। एक दिन मैंने अपनी सत्कीर्त्ति को धूल में मिलते देखा था, एक दिन ऐसा आया कि मेरी कुकीर्त्ति भी बुझ गई। सत्कीर्त्ति का मन्दिर एक क्षण ही में गिर गया था, कुकीर्त्ति के मिटने में वर्षों लग गए—पर वह मिट गई। लोग फिर मेरे निकट आने लगे; पूजा-भाव से नहीं, उपेक्षा से। गाँव की स्त्रियाँ फिर मेरे चरणों में बैठने लगीं; आदर से नहीं, दर्प से, या कभी थकी होने के कारण। बालिकाएँ फिर मेरे आसपास एकत्र होकर नाचने लगीं; न श्रद्धा से, न तिरस्कार से, केवल इसलिए कि घर से भागकर वहाँ आ जाने में उन्हें आनन्द आता था। मेरे टूटे हुए मन्दिर का पुनर्निर्माण तो नहीं हुआ, पर उसके भग्नावशेष पर चूना फिर गया!

पर इस खँडहर से ही नई आशा उत्पन्न हुई!

जब प्रभात होता था, मेरा शिखर तोतों के समूह से एकाएक ही कूजित हो उठता था, शीतल पवन में मेरे पत्ते धीरे-धीरे काँपने

लगते थे, न-जाने कहाँ से आकर कमलों की सुरभि वातावरण को भर देती थी, इस वल्लरी के शरीर में भी एक उल्लास के कम्पन का अनुभव मुझे होता था ; जब सारा संसार एक साथ ही कम्पित, सुरभित, आलोकित हो उठता था, तब वह आती थी और इन खेतों मे, जिनमे छुटी हुई घास मे अर्धविस्मृत अलसी और पोस्त के फूलों का प्रेत नाच रहा था, बहुत देर तक इधर-उधर घूमती रहती थी। फिर जब धूप बहुत बढ़ जाती थी, जब उसका मुख श्रम से आरक्त हो जाता था, और उसपर स्वेद-बिन्दु चमकने लगते थे, तब वह हँसती हुई आकर मेरी छाया में बैठ जाती थी।

उसकी वेश-भूषा विचित्र थी। गाँव की स्त्रियो में मैंने वह नहीं देखी थी। वह प्रायः श्वेत या नीला आभरण पहनती थी, और उसके केश आँचल से ढके नहीं रहते थे। उसका मुख नमित नहीं रहता था, वह सदा सामने की ओर देखती थी। उसकी आँखो में भीरुता नहीं थो, उनमें रस था, अनुराग था, और साथ ही थी एक अव्यक्त ललकार—मानो वे संसार से पूछ रही हो, "अगर मैं तुम्हारी रीति को तोड़ूँ, तो तुम क्या कर लोगे?"

वह वहाँ समाधिस्थ-सी होकर बैठ रहती, उसके मुखपर का वह मुग्ध भाव देखकर मालूम होता कि वह किसी अकथनीय सुख की आन्तरिक अनुभूति कर रही हो। मै सोचता रहता कि कौन-सी ऐसी बात हो सकती है, जिसकी स्मृतिमात्र ही इतनी सुखद है! कितने ही दिन वह आती रही, नित्य ही उसके मुख

पर आत्म-विस्मृति का वह भाव जाग्रत होता, नित्य ही वह एक घण्टे तक ध्यानस्थ रहती और आकर चली जाती, पर मुझे उस परमानन्द के निर्झर का स्रोत न मालूम होता।

फिर एक दिन एकाएक भेद खुल गया—जिस परिहासमय देवता की उपासना मैंने की थी, वह भी उसीको उपासिका थी; किन्तु परिणाम हमारे कितने भिन्न थे!

एक दिन वह सदा की भाँति अपने ध्यान में लीन बैठी थी। उस गाँव से आनेवाले पथ पर एक युवक धीरे-धीरे आया, और मेरे पीछे छिपकर उसे देखने लगा। उसका ध्यान नहीं टूटा, वह पूर्ववत् बैठी रही। जब उसकी समाधि समाप्त हो गई, तब वह उठ कर जाने लगी; तब भी उसने नवागन्तुक को नही देखा।

वह युवक स्मित-मुख से धीरे-धीरे गाने लगा :—

चूनरी विचित्र स्याम सजिकै मुबारक जू
ढाँकि नख-सिख से निपट सकुचाति है;
चन्द्रमै लपेटि कै समेटि कै नखत मानो
दिन को प्रणाम किए रात चली जाति है!

वह चौंककर घूमी, फिर बोली, "तुम—यहाँ!" उसके बाद जो-कुछ हुआ, उसका वर्णन मै नही कर सकता! वह था कुछ नहीं—केवल कोमल शब्दों का विनिमय, आँखों का इधर-उधर भटककर मिलन और फिर नमन--बस! पर मेरे लिए उसमें एक अभूतपूर्व आनन्द था—न-जाने क्यों!

कुछ दिन तक नित्य यही होता रहा। किसी दिन वह पहले आती, किसी दिन युवक, पर दोनों ही के मुख पर वह विमुग्धता का, आत्म-विस्मृति का, भाव रहता था। जिस दिन युवक पहले आता, वह मेरी छाया में बैठ कर गाता :—

नामसमेतं कृतसंकेतं वादयते मृदु वेणुम्—

वहुमनुतेऽतनु ते तनुसंगत पवनचलितमपि रेणुम्!

और जिस दिन वह पहले आती, वह उन खेतों में घूमती रहती, कभी-कभी ओस से भीगा हुआ एकआध तृण उठाकर दातों से धीरे-धीरे कुतरने लगती।

एक दिन वह घूमते-घूमते थक गई, और मेरे पत्तों की सघन छाया में, इस वल्लरी के बन्धन को मेखलावत् पहनकर बैठ गई। युवक नहीं आया।

दोपहर तक वह अकेली बैठी रही—उसके अंग-अंग में प्रतीक्षा थी, पर व्यग्रता नहीं थी। जब वह नहीं आया, तब वह कहने लगी—न-जाने किसे सम्बोधित करके, मुझे या इस वल्लरी को, या अपने-आप को, या किसी अनुपस्थित व्यक्ति को—कहने लगी:—

"यह उचित ही हुआ। और क्या हो सकता था? अगर कर्त्तव्य भूलकर सुख ही खोजने का नाम प्रेम होता, तो—! मैं जो-कुछ सोचती हूँ, समझती हूँ, अनुभव करती हूँ, उसका अणुमात्र भी व्यक्त नही कर सकी—पर इससे क्या? जो-कुछ हृदय में था—है—उससे मेरा जीवन तो आलोकित हो गया है। प्रेम में दुःख-सुख, शान्ति और व्यथा, मिलन और विच्छेद,

सभी हैं, विना वैचित्र्य के प्रेम जी नहीं सकता ..नही तो जिसे हम प्रेम कहते है, उसमे सार क्या है ?"

वह उठी और चली गई। मेरी छाया से ही निकलकर नही, मेरे। जीवन से निकल गई। पर उसके मुख पर मलिनता नहीं थी, अव भी वही आत्म-विस्मृति उसकी आँखो मे नाच रही थी...

मेरे लिए उसका वहीं अवसान हो गया। उसके साथ ही मानवी प्रेम की मेरी अनुभूति भी समाप्त हो गई। शायद प्रेम की सव से अच्छी व्याख्या ही यही है कि इतने वर्षो के अन्वेषण के वाद भी मेरा सारा ज्ञान एक प्रश्न ही में समाप्त हो जाता है—"नही तो, जिसे हम प्रेम कहते है, उसमें सार क्या है ?" किन्तु इतने वर्षों मे जिस अभिप्राय को, जिस सार्थकता को, मैं नही खोज पाया था, वह उस स्त्री के एक ही प्रश्न में मुझे मिल गई। उस दिन मै समझने लगा कि अभिव्यक्ति प्रेम के लिए आवश्यक नही है...उसने कहा तो था, "जो-कुछ मेरे हृदय में था—है—उससे मेरा जीवन तो आलोकित हो गया है !" मैं अपना प्रेम नही व्यक्त कर सका, मेरा जीवन एक प्रकार से न्यून, अपूर्ण रह गया, पर इससे क्या ? उस दीप्तिमय आत्म-विस्मृति का एक क्षण भी इतने दिनों की व्यथा को सार्थक कर देता है !

मै देखता हूँ, संसार दो महच्छक्तियो का घोर संघर्ष है। ये शक्तियाँ एक दूसरे से भिन्न नही है, एक ही प्रकृति की प्रगति के दो विभिन्न पथ है। एक संयोजक है—इसका भास फूलो से भौंरो के मिलन में, विटप से लता के आश्लेषण में,

चन्द्रमा से ज्योत्स्ना के सम्बन्ध मे, रात्रि से अन्धकार के प्रणय मे, उषा से आलोक से ऐक्य मे, होता है; दूसरी शक्ति विच्छेदक है—इसका भास आँधी से पेड़ों के विनाश में, विद्युत् से लतिकाओं के भुलसने में, दावानल से वनों के जलने में, शकुन्त द्वारा कपोतों के मारे जाने में, होता है कभी-कभी दोनो शक्तियों का एक ही घटना में ऐसा सम्मिलन होता है कि हम भौचक हो जाते है, कुछ भी समझ नही पाते। प्रेम भी शायद ऐसी ही एक घटना है .

कभी-कभी मुझे ऐसा मालूम होता है कि इतना कुछ देख और पाकर भी मैं वंचित ही नहीं, अछूत, परित्यक्त रह गया हूँ। मुझे बन्धुत्व की, सखाओं की कामना होती है; पर पीपल के वृक्ष के लिए बन्धु कहाॅ है, समवेदना कहाॅ है, दया कहाँ है; कभी पर्वत को भी सहारे की आवश्यकता होती है? मैं इतना शक्तिशाली नही हूँ कि बन्धुओ की कामना—उग्र कामना—ही मेरे हृदय के अन्तस्तल में न हो; किन्तु फिर भी देखने मे मैं इतना विशाल हूँ, दीर्घकाय हूॅ, दृढ़ हूॅ, कि मुझ पर दया करने का, मेरे प्रति बन्धुत्व-भाव का ध्यान भी किसी को नहीं होता! उत्पत्ति और प्रस्फुटन की असंख्य क्रियाएॅ मेरे चारों ओर होती हैं, और बीच में मै वैसे ही अकेला खड़ा रह जाता हूँ, जैसे पुष्पित उपत्यकाओं से घिरा हुआ पर्वत-शृंग

पर उसी समय मेरे हृदय में यह भाव उठता है कि मुझे यह दुखड़ा रोने का कोई अधिकार नही है। मैने जीवन मे

सब-कुछ नहीं पाया, बहुत अनुभूतियों से मैं वंचित रह गया, पर जीवन की सार्थकता के लिए जो-कुछ पाया है, वह पर्याप्त है। न-जाने कितनी बार मैंने वसन्त की हँसी देखी है, पक्षियों का रव सुना है, न-जाने कितनी देर मैंने मानवों की पूजा पाई है, न-जाने कितनी सरलाओं की श्रद्धापूर्ण अंजलि प्राप्त की है, और उन सब से अधिक, न-जाने कितनी बार मुझे इस अमरवल्लरी के स्पर्श में एक साथ ही वसन्त के उल्लास का, ग्रीष्म के ताप का, पावस की तरलता का, शरद् की स्निग्धता का, हेमन्त की शुभ्रता का और शिशिर के शैतल्य का अनुभव हुआ है, न-जाने कितनी वार इसके बन्धनों में बँधकर और पीड़ित होकर मुझे अपने स्वातन्त्र्य का ज्ञान हुआ है! एक व्यथा, एक जलन, मेरे अन्तस्तल में रमती गई है—कि मैं मूक हो रह गया, मेरी प्रार्थना अव्यक्त ही रह गई—पर मुझे इस ध्यान में सान्त्वना मिलती है कि मैं ही नहीं, सारा संसार ही मूक है...जब मुझे अपनी विवशता का ध्यान होता है, तो मैं मानव की विवशता देखता हूँ; जब भावना होती है कि विश्वकर्मा ने मेरी प्रार्थना की उपेक्षा करके मेरे प्रति अन्याय किया है, तब मुझे याद आ जाता है कि मैं स्वयं भी तो इस सहिष्णु पृथ्वी की मूक प्रार्थना का, इसकी अभिव्यक्ति-चेष्टा का, नीरव प्रस्फुटन ही हूँ!

कड़ियां

मुल्तान जेल
नवम्बर, १९२३

प्रभात तो नित्य ही होता है, किन्तु ऐसा प्रभात ! सत्यको जान पड़ रहा है, उसने वर्षों बाद ऐसा प्रभात देखा है—शायद अपने जीवनमें पहली बार देखा है। उसमे कोई नूतनता नही है—कोई विशेषता नहीं है—और वह चिर-नूतन है, अत्यन्त विशिष्ट है...

आज उसे देहली से मेरठ ले जायँगे,।वहाँसे उसकी कल रिहाई होनी है। सत्य तीन वर्षसे देहली जेलमे पड़ा है। उसे कांग्रेस-आन्दोलनके सम्बन्धमें सजा हुई थी—एक सभाका प्रधानत्व ग्रहण करनेके लिए। उस दिनसे वह वहाँ बैठा अपने दिन गिन रहा था—और अपनी मशक्कत कर रहा था। उसके लिए प्रभातमें कोई विशेपता नहीं होती थी—जेलमें प्रभात क्या है ? मशक्कत करनेका एक और दिन !

पर आज ! आज वह जेलसे निकलकर लारीमें बैठा है। वह पुलिसवालोंसे घिरा हुआ है, पर जेलकी दीवारोंसे बाहर तो है ! वह अभी तक क़ैदी है, पर कल तो नही रहेगा ! और कल...कल उससे कौन-कौन नही मिलने आएगा ! तीन वर्ष तक वह अकेला पड़ा रहा है, पर कल ! जो उसे तीन वर्षसे भूले हुए है, कल उन्हें याद आएगा कि उनका एक मित्र कभी जेल गया था और अब प्रख्याति पाकर निकला है ! कल वे उसे घेर-घेरकर कहेंगे, तुम्हारे बिना हमारा जीवन निस्सार था। तुम देशके उद्धारकर्ताओंमे से

एक हो—भारतमाता के सुपुत्र ! तुम्हारी देशको बहुत आवश्यकता है। और वह गौरवसे कहेगा, अभी मैं और बीस दफ़े जेल जा सकता हूँ— जाऊँगा। अभी तो मैं कर ही क्या पाया हूँ !

क्योंकि जो कोई नैतिक जुर्म करे, वह तो दोषी ही होता है; पर जो राजनैतिक कार्य करे, उसका तो गौरव बढ़ना ही चाहिए.

सत्य प्रभातकालीन सूर्यमें यही गौरवका स्वप्न देख रहा है। इसीलिए उसे जान पड़ता है, ऐसा प्रभात कभी नहीं हुआ ! क्योंकि आज तो सूर्य मानो उसीके तेजसे चमक रहा है—मानो उसीका पथ आलोकित करनेको निकला है !

लारी चली। कोटलेके पाससे घूमकर वह जमुनाके किनारे हो ली। वह सामने बिजलीघर है— अरे, यह कहाँ तक पानी भर आया है ! सुना तो था कि नदीमें बाढ़ आई है; पर इतना पानी ! सड़कसे कुछ ही दूर रह गया है, तमाम खेत भर रहे हैं, मकई गल-गलकर गिर रही है—बेचारे किसान अपने फूसके छप्पर उठा-उठाकर सड़कपर ले आए हैं...

हाय ग़रीबी ! देखो, ये लोग कैसे डिब्बोंमें भरे अचारकी तरह भिच रहे हैं ..और आसपास ही इनके पशु खड़े हैं...लड़के-लड़कियाँ रो रही हैं— खानेको नहीं है— और कभी जब कोई भाग्यशालिनी माँ अपनी बच्चीको एक रोटीका टुकड़ा ऐसे लाकर देती है, मानो स्वर्गकी सारी विभूति छीन लाई हो और उसे दे रही हो, तब दूसरे भूखे बच्चोंकी मुग्ध आँखोंके आगे ही कोई कुत्ता

आकर उस टुकड़ेको छीन ले जाता है! उसमें टुकड़ेकी रक्षा करनेकी शक्ति नहीं है— भूखा मानव भूखे कुत्तेसे भी कमज़ोर होता है...

पर इनका जीवन कितना सरल होता है! दिन-भर भूखे रहते हैं, दुःख झेलते हैं, रोते-कलपते हैं; किन्तु जब रातको सोने लगते है, तब शान्त और सन्तुष्ट! इनका जीवन कैसा सदा प्रेमसे भरा रहता होगा— इनके जीवनमें तो एक ही भावना होती होगी— प्रेमकी। लोभ, मोह और क्रोधके लिए इनमें स्थान कहाँ होगा? और मैं इनकी सेवा करूँगा, इनका स्नेह पाऊँगा...

अब छूटकर इन्हीं पीड़ितोंकी सेवा करनी है। अबकी ऐसा यत्न करूँगा कि अपने राजनैतिक कार्यके साथ-साथ कुछ समाज-सेवा भी कर सकूँ। बाढ़से इन लोगोंको उबारनेके लिए चन्दा इकट्ठा करना होगा..

लारी तेज़ गतिसे चली जा रही है मेरठकी ओर, और सत्यका मन उससे भी तेज़ गतिसे चला रहा है मेरठ से भी आगेके भविष्यकी ओर..

यह क्या है? वह कौन है?

सत्य देखता है—एक अधेड़ उम्रका आदमी, नंगे बदन, हाथमें लाठी लिए दौड़ा जा रहा है, और बीच-बीचमें एक वीभत्स हँसी हँसकर कहता जाता है, "वह पाया! तेरी—!" और उससे कोई आठ-दस गज़ आगे एक देहाती युवती है— भय, पीड़ा, लज्जा, करुणा और एक अवर्ण्य भावना—एक बलिदान या

अभिमान या दोनोंकी मुद्रा—का एक जीवित पुंज लँहगेकी परिसामें सिमटकर भागा जा रहा है। भागा जा रहा है जान लेकर। ओढ़नीका पता नहीं है, बाल खुल गए हैं, बड़ी-बड़ी आँखें फटी जा रही हैं— भूखा शरीर पता नहीं कैसे लँहगेका बोझ सँभाले हुए है— जब वह उछलती है, तो लँहगा कुछ उठ जाता है, घुटने तक उसकी टाँगें दीख जाती हैं— टाँगें भी पतली, बरसोंकी भूखी!—और पैरमें चाँदीके कड़ोंके नीचे खून लग रहा है, पर वे थमते नहीं— ज़मीनपर भी टिकते नहीं, शिकार और शिकारी का अन्तर कम नहीं होता...

लारी उस युवतीसे आगे निकल गई है— सत्य गर्दन झुकाकर देख रहा है...

यह क्या लाठी फेंकेगा? वह औरत है, या दानवी? एक उछाल— सत्यने देखा, अबकी बार क्षणभरके लिए घुटनोंसे भी बहुत ऊपर तक लँहगा उठ गया है— वह कूद पड़ी है जमुनाकी बाढ़में—वह गिरी—ओफ़! यह तो काँटोंकी एक बड़ी झाड़ीमें गिरी और धँस गई— जबतक निकलनेकी चेष्टा करेगी, तब तक पानीमें और कीचमें डूब जायगी!—कैसी घुट-घुटकर!—और काँटे...

पर अब कुछ नहीं दीखता। लारी बहुत आगे निकल आई है। केवल लारीके पहियोंसे उठी हुई धूल। और सरकण्डेके झुरमुट। और लम्बे-लम्बे घने झाऊ। और कहीं-कहीं थोड़से नरसल। और एक अर्जुनके पेड़पर से उड़ा जा रहा नीलकण्ठ।

और जमुनाका प्रवाह—एक साथ ही क्षुद्र और गम्भीर, प्रशान्त और उद्वेगपूर्ण।

लारी जमुनाको पार कर रही है।

२

कहाँ गया वह उत्साह? कहाँ गया वह प्रभातका सौन्दर्य? कहाँ गई वह तीन वर्षोंके बाद छूटनेकी उत्तेजना?

सत्य निष्प्रभ-सा लारीमे बैठा है। उसकी तनी हुई शिराएँ धीरे-धीरे ढीली पड़ रही हैं, और साथ-ही-साथ उसकी उत्तेजना और उसका उल्लास भी ठण्डे होते जा रहे है। जिस गौरवपूर्ण सार्वजनिक जीवनकी उसने कल्पना की थी, उसमें इसके लिए स्थान नही था—इस अनियंत्रित उन्माद के लिए, जीवनके प्रति ऐसे उपेक्षापूर्ण त्यागके लिए—इस विशेष प्रकारकी पीड़ाके लिए। और सबसे बढ़कर इस भयंकर निस्सहायता के लिए, जिसका उसने आज लारी में बैठे-बैठे अनुभव किया, जिसके कारण उसे वह रोमांचकारी दृश्य देखना पड़ा.

वह कौन था? वह कौन थी? वह क्या था? सत्य इन प्रश्नों पर अपनी बुद्धिकी कुल शक्ति ख़र्च कर चुका है, पर उसकी समझमे कुछ नही आया। और जब तक वह समझ नहीं लेगा, उसे चैन नही मिलेगा...

नशा उतर गया है, उल्लास बैठ गया है, उत्तेजना ठण्डी पड़ गई है; पर नशेके बाद बदन टूटता है, उल्लासके बाद थकान आती

है, उत्तेजनाके बाद मूर्छना। सत्यके हाथ बहुत थोड़े-थोड़े काँप रहे हैं, और उसका मन उद्वेगसे भर रहा है।

वह जो मैंने देखा, वह क्या हो रहा था? उसका और उसका क्या सम्बन्ध था? उस आदमीका मुँह जिस भावसे विकृत हो रहा था, वह क्रोधकी ज्वाला थी, या वासनाकी; वह उसके शरीर-पर अपनी क्रोधाग्नि शान्त करना चाहता था, या कामाग्नि? क्यों? वह कुमारी थी, या विवाहिता? (विधवा तो नहीं थी...)

जासूसोंके संशयोंकी भाँति अनेक चलचित्र सत्यके सामनेसे एक-एक करके जा रहे थे। वह उसकी स्त्री है, वह सती है, पर उसका पति उसपर सन्देह करता है। नही, वह असती है, और पकड़ी गई है। वह किसी औरकी स्त्री है, और उसके पास प्रेमका प्रस्ताव लिए आई है, यह धमका रहा है। वह अविवाहिता है; यह उसका प्रेमी; उसने विश्वासघात किया है, यह बदला ले रहा है। वह इसे प्रेम नही करती, यह ईर्ष्या करता है ...

नही, उसका दोष नही है। उसका पिता उसकी शादी और कहीं करना चाहता है; वह आज्ञा मान लेती है, इसलिए इसे क्रोध आ गया है। तभी तो उस लड़की के मुखपर ऐसा विचित्र भाव था—जिसमे साथ ही भय और करुणा, ग्लानि और पीड़ा, और वह बलिदान और अभिमानका सम्मिश्रण हो रहा था।

यह तो तब भी हो सकता है, यदि वह बिलकुल अबोध बाला ही हो, प्रेम-व्यापारसे अपरिचित, और वह कामी अपनी वासना की तृप्तिके लिए उसे अकेली पाकर पकड़ने दौड़ा है। यह भी हो

सकता है— उसके मुखपर जो हिंस्र भाव था, वह क्रोध भी हो सकता है और उग्र, दीप्त कामलिप्सा भी। और उस लड़कीका ..

उसका मुख, वह फटी-फटी-सी आँखे

सत्य अपनी आँखें मूँदकर उस दृश्य का पुनर्निर्माण करनेका यत्न करता है। पर, कल्पना मे उसे उस लड़कीका मुख क्यों नही दीखता ? वह सामने जमुना का बढ़ा हुआ गँदला पानी—वह सरकण्डोके झुरमुट—ये कँटीली झाड़ियाँ—वह पीछे लाठी लिए दौड़ा आ रहा है— वह कूदी— उसके अस्तव्यस्त कपड़े और बिखरे बाल—उड़ता हुआ लँहगा—सब-कुछ दीखता है ; पर मुख क्यों नहीं याद आता ? सत्य खीझ कर आँखें खोलता है, फिर बन्द करके केवल उसके मुखपर ध्यान केन्द्रित करता है। पर वहाँ तो शून्य-ही-शून्य दीखता है, मुख नहीं। वह प्रकम्पित चोली, वह लँहगा—

नहीं, लँहगा-वहँगा कुछ नही सोचूँगा ! वह मुख !

सत्य फिर चेष्टा करता है। उसके लिए, वह बहुत धीमे स्वरमे उस मुखकी एक-एक विशेषताका वर्णन करता है, और उसे ध्यानावस्थित करके उसे मूर्त आकार देनेकी चेष्टा करता है।

बिखरे हुए केश ; रंग —न साँवला, न गोरा, कुछ साँवलेपनकी ओर अधिक ; गठन — न सुन्दर, न कुरूप, किन्तु एक अनिर्वचनीय लुनाई लिए हुए ; भँवें—मानो एक दूसरेको छूनेके लिए बाँहे फैला रही हो ; आँखें —आँखे तो सोची ही जा सकती हैं, शब्दोमे बँध नही सकती ; नाक—छोटी, सीधी ; ओठ—

खुले, निचला ओठ कुछ भरा हुआ, कोने खिंचे और कुछ नीचे झुके हुए; कोनेके पास—क्या तिल? और ठोड़ी—

खाक-धूल! सत्यका कल्पनाक्षेत्र तो वैसा ही शून्य है! वह उस मुखके एक-एक अङ्गकी एक-एक खूबीका बखूबी वर्णन कर सकता है; पर उसके मूर्त चित्रण मे उसकी कल्पनाशक्ति जवाब दे जाती है।

वह झुँझलाकर सोचता है, इस विषयको भुला दूँगा। वह मुँह फेरकर सड़कपर भागती हुई लारीके इंजन के वानेट (शीर्ष) पर लगे हुए गरुड़चिह्न की ओर देखने लगता है। वह पीतलका गरुड़ पर फैलाए हुए ऐसा सन्नद्ध खड़ा है, जैसे किसी शिकारपर झपट पड़नेकी क्रियामें ही रुक गया हो।

या, जैसे वह स्त्री—बाढ़के पानीमें अधडूबी झाड़ीमें कूदते समय थी—तना हुआ शरीर, फैले हुए डैनेकी तरह लँहगा, नंगी टाँगें...

छिः!

मानो संसारमे उन नंगी टाँगोंके अतिरिक्त कुछ रह ही न गया हो—क्यों बार-बार मेरी दृष्टिके आगे वे ही आ जाती हैं? क्या इन दो-तीन वर्षों के दूषित वातावरणने मेरे मनको भ्रष्ट, पतित, व्यभिचारी बना दिया है? मेरे मनको, जिसे अभी देशका इतना कार्य करना है, जो भारतमाताका सुपुत्र होनेका दावा करता है?

और सत्यका— भारतमाताके सुपुत्रसत्यका— ढीठ मन फिर भागा। अबकी बार बड़ी दूर। सैकड़ों मीलोंकी मंजिल मारकर,

सैकड़ों दिनोंका व्यवधान पारकर। तब जब सत्यने नया-नया बी० ए० पास किया था और छुट्टियोंके लिए काश्मीर जा रहा था। और किस सम्बन्धसे वह इतनी दूर भागा, यह वही जाने। सत्य तो नहीं जानता—अभी इसपर ध्यान देनेकी फ़ुरसत भी कहाँ? वह तो अभी कुछ और ही दृश्य देख रहा है। वह नहीं देख रहा, दृश्य स्वयं ही बाढ़की तरह उमड़ता हुआ उसकी चेतनाको परिप्लावित कर रहा है...

३

मुज़फ़्फ़राबाद की तलहटीमें, दोपहर।

जेहलम और कृष्णगंगा दोनों ही मे बाढ़ आई है। दोनों ही के पुल ख़तरेमे है। जो लोग ऐबटाबादसे काश्मीर आते है, वे यहीं पर दोनो नदियाँ पार करते हैं; किन्तु पुल ख़तरेमें होनेके कारण आजकल लारियाँ उन्हे पार नही कर सकतीं, इसलिए ऐबटाबादकी ओरसे आनेवाले यात्री दोनो पुल पैदल पार करते है और दुमेलमें दूसरी लारियों में बैठकर काश्मीर जाते है। और जो लारियाँ कोहाला होकर आती है, वे इन यात्रियोको लेनेके लिए दुमेलमें रुकी रहती हैं।

सत्य जिस लारी में आया है, वह रातको दुमेल पहुँची थी और एक दिन दुमेल ही मे प्रतीक्षामें रुकेगी। सत्यको कोई जल्दी नहीं थी, इसलिए वह इस प्रोग्रामका विरोध नही कर रहा है।

वह रात ही को अपनी छोटी दूरबीन, दो-तीन कम्बल, कमीज़, निकर और तौलिया लेकर दुमेलमे जेहलमका पुल पार

करके दोनों नदियोंके संगमस्थल के ऊपर त्रिकोण में बसी हुई बस्ती मुज़फ्फराबाद में घुस गया था। उसे आशा थी, कहीं रात काटनेका प्रबन्ध हो जाएगा। जब उसे निराशा हुई, तब वह सड़कपर से नीचे उतरकर कृष्णगंगाके तटपर पहुँचा। वहीं वह बिस्तर लगाने के योग्य कोई स्थान ढूँढ़ रहा था, तो उसने देखा, वहाँसे कुछ ही दूरपर एक छोटे-से सोतेके पास, जिसमें किसी वन्य-वृक्षकी आगे निकली हुई छालपर से होकर मोतियों की लड़ी-सी पानीकी धार आ रही थी. दो-चार बड़ी-बड़ी सिलें जोड़कर एक चबूतरा-सा बनाया गया था। उसने मन-ही-मन सोचा, 'मुसलमानोंकी पाकगाह होगी', और उसपर कम्बल बिछाकर पड़ गया।

वह थी कलकी बात। सुबह वह उठा, तो देखा, उस झरनेपर कई एक स्त्रियाँ पानी भरनेके लिए जमा हो रही हैं। उसे उठा देखकर उन्होंने लम्बे-लम्बे घूँघट तान लिए। सत्य थोड़ी देर उन्हें देखता रहा, फिर उठकर घूमने लगा और आसपास लगी हुई जंगली स्ट्रावेरी बीन-बीनकर खाने लगा ..

अब तीसरे पहर वह दोबारा सोकर उठा है। जंगली अखरोट के पेड़ोंसे छनकर आती हुई धूपमे दोपहर-भर सोनेसे उसके शरीरमे एक अपूर्व मस्ती छा गई है। वह उठकर नदीके किनारेपर बैठा है और नहानेका निश्चय करके भी आलस किए जा रहा है—वह मस्ती इतनी मधुर मालूम हो रही है...

सत्य जहाँ बैठा है, वहाँसे कृष्णगंगाके श्याम और जेहलमके मटमैले पानीका संगम दीख पड़ता है। कृष्णगंगाके परली पार

सत्य देख रहा है, पाँच-सात गूजरियाँ क्रीड़ा कर रही है। सत्यको उनके मुख स्पष्ट नहीं दीखते ; पर फिर भी वह उन्हे अच्छी तरह देख सकता है।

सत्य कपड़े उतार चुका है और पानीमे घुस गया है। वह किनारेके पास ही जलमें बैठ गया है, उसका सिर-भर पानीके बाहर है। दूरसे श्यामल पानीमें शायद वह बिलकुल ही अदृश्य हो जाय।

गूजरियाँ भी नहानेकी तैयारी कर रही हैं। उन्होने परस्पर हँसी करते-करते कपड़े उतार फेंके हैं, और रेतपर लेटी हुई धूप सेक रही हैं।

सत्य पानी में बैठा हुआ उन्हें देख रहा है। वह अपना स्नान भूल गया है, किनारेसे दूरबीन उठाकर देख रहा है। उसे क्षीण-सा ज्ञान है कि वह अच्छा नहीं कर रहा है ; पर साथ ही यह विचार उसे प्रोत्साहन दे रहा है कि वह परले पारसे नहीं दीखता। और फिर जब वे खुले-आम नहा रही हैं, तो अनेक लोग उन्हें देख रहे होंगे, वह अकेला थोड़े ही है ?

सत्य, तू कब तक ऐसा बैठा रहेगा ? अपने जीवन की जिन दबी हुई शक्तियों को तू आज उन्मुक्त कर रहा है, वे कहीं तुझे ही न कुचल डालें..

ऊँह ! वह देखो, गूजरियों के साथ दो छोटी-मोटी लड़कियाँ हैं, कितने तीव्र स्वर से हँस रही हैं ! सत्य को जान पड़ता है, या

भ्रम होता है कि वह नदी के प्रवाह-मर्मर के ऊपर उस तीखे स्वर को सुन सकता है।

वह एक युवती उठकर चट्टान पर खड़ी हुई है और सूर्य की ओर उन्मुख होकर अँगड़ाई ले रही है। मानो कोई वनसुन्दरी सूर्य को ललकार रही है – तू सुन्दर है या मैं? उसने कन्धे पर अपना काला पैरहन रखा हुआ है, जिसके मुक़ाबले में उसका शरीर अत्यन्त गोरा जान पड़ रहा है।

बहुत देख लिया। वे शक्तियाँ तुझे नहीं छोड़ेंगी। तेरी मानवता पुकार रही है—तेरी दासताबद्ध स्वाभाविक कामनाएँ अत्यधिक नियन्त्रण के कारण और अधिक बलवती होकर फूट निकली है! तू सँभल—इस अपूर्व उत्तेजना को दबा डाल!

और यह सोचते-सोचते उसने दूरबीन किनारे पर रखी, एक लम्बी साँस ली और फिर गोता लगा गया। जब उसका सिर पानी से बाहर निकला, तब वह आधी से अधिक नदी पार कर आया था। उसने पानी में उछलकर साँस ली। उसकी आँखों ने तब तक वह चट्टान खोज ली ..

वह चौंकी—उसके ओठ कुछ खुलकर फिर एक भय और विस्मय की चीख़ को पी गए—उसका मुख क्षण ही भर मे भय, लज्जा, शायद पीड़ा और एक साथ ही कोमल और कठोर अभिमान की छाया दिखा गया। उसी क्षण मे उसने हाथ तनिक ऊपर उठाए और एड़ियों पर सध गई। अगले क्षण सत्यने देखा, मानो एक बड़ा-सा काला गरुड़ अपने डैने फैलाए उस चट्टान पर

मँडरा रहा है—वह युवती पानी में कूद पड़ी है और बैठ गई है, और उसका काला पैरहन पानी पर तैर रहा है। और उसी क्षण में सत्य झेंपा हुआ, लज्जित ; पानी में ही पसीना आ रहा है।

सत्य लड़खड़ाकर गिरा। सैकड़ो मील, सैकड़ों दिन का व्यवधान पार करते हुए—मुज़फ्फ़राबाद से मेरठ ..

सत्य, भारतमाता का सुपुत्र, आवेश में आकर लारी में ही खड़ा हो गया है। पुलिसवाले चौंककर उसकी ओर देखते हैं। वह घोर लज्जा का अनुभव कर रहा है—उसके माथे पर पसीना आ गया है।

और जिस चेहरे की कल्पना करने की चेष्टा मे उसने इतनी शक्ति लगा दी थी, इतनी शक्ति लगाकर भी असफल रहा था, वह उसके सामने नाच रहा है। एक अकेला नहीं, हज़ारो। सत्य को दीख पड़नेवाला कुल वायुमंडल ही सहस्रों वैसे चेहरों से भर गया है—वही बिखरे केश, मिलती भँवें, अनुपम आँखें, भरे ओंठ, वही विचित्र मुद्रा। भय, लज्जा, पीड़ा, करुणा, ग्लानि। वह कोमल और कठोर बलिदान या अभिमान।

यह सब उसकी उत्तेजना की उठान मे नहीं, किन्तु तब, जब भारतमाता का सुपुत्र आत्म-ग्लानिका पुंज बनकर फिर बैठ गया है।

जिस चीज़ को मैं समझता था कि मैने अपने आदर्श जीवन में भुला दिया है, वह अभी तक मेरे भीतर इतने उग्र रूप

में विद्यमान है—भारतमाता के सुपुत्र ! देश के उद्धारकर्ता ! छिः छिः !

छिः !

४

रिहा तो हर हालतमें होना ही था ; किन्तु सत्य जिस सुख और गौरवकी कल्पना कर रहा था, उसका अणुमात्र भी उसे नहीं प्राप्त हुआ। जब भीड़-की-भीड़ लोगोंकी उसे लेने आई, जब उसके 'इष्ट-मित्र' (जो तीन वर्ष तक उसकी स्मृतिको हृदयमें छिपाए बैठे थे) उसे बढ़ावा देते हुए खींचकर ले गए और लारीमें बिठाकर देहली चलनेको हुए—उसके नामके नारे लगाते हुए—तब सत्यको ऐसा प्रतीत हुआ, वह बच नहीं सकेगा ; लज्जासे वहीं धँस जायगा। उसके जीमें आया, चिल्लाकर कहूँ—मैं अत्यन्त नीच, घृणित, पतित हूँ ; मुझे धक्के दे-देकर निकालो—नहीं, फिर वापस जेल भेज दो ! मैं उसी योग्य हूँ। उसे जान पड़ा, अगर यह नहीं कहूँगा, तो जल जाऊँगा, ज्वालामुखीकी तरह फट पड़ूँगा।

पर उसने कहा नहीं। उसके मुँहसे बोल नहीं निकला। केवल जब किसीने पूछा—"आपको अभीसे देशकी चिन्ता लग गई ?" और सत्यने देखा कि पूछनेवालेकी मुद्रामें व्यंग्यका नहीं, श्रद्धाका-सा भाव है, तब उसने ग्लानि और क्रोधकी पराकाष्ठामें, उसीको छिपानेके लिए, जैसा भी सूझा, अच्छा, बुरा, भद्दा मज़ाक करना शुरू किया, और फिर ऐसा चला कि बस, रुकनेमें ही नहीं आया।

पर जमुनाके पुलके पास पहुँचते-पहुँचते फिर वही हाल। सत्य चुप—गुमसुम। लोग बात करते है, तो उत्तर नदारद—मानो सुना ही नहीं।

पुल पार करते ही सत्यने कहा, "लारी रुकवाओ, उतरूँगा।"

दोस्तोंने विस्मित होकर कारण पूछा, तो किसीसे इधर मिलने जाना है। शाम तक काम नही रुक सकता।

कोई साथ चले? नहीं, अकेले जायँगे। प्राइवेट काम है।

लीडरके सौ खून माफ। सत्यको उतारकर लारी आगे बढ़ी। सत्य जल्दी-जल्दी बेला रोडपर चलने लगा। न-जाने किस आशा में, उसने इसपर स्वयं कोई विचार नहीं किया था। वह चलता जा रहा था और उसकी आँखे आसपास किसी परिचित चिह्नकी तलाशमें फिरती थीं!

ये रहे नरसल—और वह रहा झाऊ—वह सामने सरकण्डे का झुरमुट—मकईका तो कहीं नाम-निशान भी नहीं दीख पड़ता, वह तो बिलकुल बैठ गई है। अब तक तो सड़ गई होगी। और यह—

सत्य ठिठक गया।

यह सामने वही कँटीली झाड़ी है। आसपास कहीं कोई नही दीख पड़ता। दूरपर फूसके छप्पर पड़े है; पर उनके पास-पड़ोसमे कोई मानवी आकार नही दीखता। क्या करूँ? उतरकर देखूँ झाड़ीमे क्या है? अगर कुछ होता भी, तो अब तक कौन छोड़ेगा? शायद खूनके क़तरे—

नहीं, कुछ नहीं है। स्वप्नमे भले ही आग देखी हो, दिनमें उसका धुआँ भी नहीं नज़र आता।

सत्य बैठा है। संसार अपनी अभ्यस्त गतिसे चला जा रहा है; पर सत्यके लिए नहीं। उसके लिए सृष्टि मर चुकी है। अब रह गया है वह और एक वायदा। एक वायदा जो कि पूरा नहीं हुआ। न होगा। न हो सकता है। वह अब वैसा ही है, जैसे कोई प्रेमिका मिलनेका वचन देकर मर गई हो और उसका अभिसारी प्रतीक्षामे बैठा रहे। दिन, महीनों, वरसो नहीं; अनन्त काल तक प्रतीक्षामें बैठा रहे. दिन ढल गया है, जमुनाका गँदला पानी सांध्य धूपमें ताँबे-सा दीख पड़ता है, और नरसल ऐसे, जैसे तॉवे को जंग लग गया हो; हवा चलने लगी है, और उससे पानी के वृद्धिगत होते हुए 'घर्र-घर्र' शब्द के साथ ही नरसल और झाऊ की दर्द-भरी सरसराहट मिल गई है; दूर कही से पक्षियों के रव से न छिप सकनेवाली पड़कुलियाकी पुकार कह रही है, 'तू-ही-तू!'—पर इस परिवर्तन मे सत्य का संसार अपरिवर्तित खड़ा है—पत्थर पर खिचे हुए चित्र की तरह जड़!

वह जो बुड्ढा चला आ रहा है, सत्य ने उसे नही देखा; पर वह सत्य की ओर आ रहा है। उसकी मुद्रा से जान पड़ता है, बात करना चाहता है।

"बाबूजी, यहाँ क्या कर रहे हो?"

सत्य ने चौंककर कहा, "क्यों?"

"बाबूजी, यहाँ मत बैठो, यह जगह अच्छी नहीं है।"

"क्यों ?"

"क्या बताएँ बाबूजी, यहाँ तो कल ही गाँव के नाम को बट्टा लग चला था।"

सत्य जानता था कि यह भ्रम है ; पर उसे मालूम हुआ, पानी से एक पुकार उठ रही है—"हाय मोहे बचइयो !" वह सम्हलकर बैठ गया, और बोला, "क्या बात हुई ?"

"बात कुछ नही, खेत के बारे में कुछ झगड़ा हो गया था, उसी से लड़ाई हो गई—"

"सो कैसे ?"

बुड्ढे ने खँखारकर पूछा, "बाबूजी, आप तमाखू पीते हैं ?" और जवाब पाकर थोड़ी देर चुप रहकर कहने लगा, "हमारे गाँव में एक ही बड़े किसान है, बाकी हम तो सब ग़रीब लोग हैं। ये आसपास के सब खेत उनके ही हैं। हमारे तो कही एक-आध खेत होगा। जब बाढ़ आई, तो हम सब अपने छप्पर इधर सड़क पर ले आए। एक ग़रीब घर का छप्पर भी बह गया था। वे रात-भर भीगते बैठे रहे थे। उसके घर में एक लड़का बेराम था। उसकी माँ रोती थी। बाप तो कही काम को गया हुआ था। घर में मर्द कोई था नही, एक अकेली बहू थी—उससे यह रोना देखा नही गया। वह सास से बोली कि मैं थोड़े झाऊ और नरसल ले आती हूँ, बच्चे के लिए छपरिया छा लेगे। वह उठकर—"

"तो और किसी ने उन्हे जगह नहीं दी ?"

"और कहाँ से देते! वे सब तो आप भीग रहे थे—छप्परों मे जगह कहाँ थी? हाँ, तो वह हँसुई लेकर चल दी। पता नहीं, किधर गई। हमने थोड़ी देर बाद सुना कि उसकी चौधरी के बेटे से रार हो गई है। वह पूछ रहा है कि मेरे खेत से मकई काट रही है? तो वह जवाब देती है कि मैं नरसल काटने आई हूँ। वह गाली देता है कि साली झूठ बोलती है, तो वह कहती है कि ज़बान सँभालकर बात करो। वह और गाली देता है, तो वह माँ-बहन की याद दिला देती है।"

"पर मकई तो वैसे ही गल गई, काम तो आती नहीं—?"

"बाबूजी, अपनी चीज़ सड़े तो, गले तो, अपनी ही है।"

"पर—"कहकर सत्य चुप हो गया। बुड्ढा फिर कहने लगा—"हाँ तो, थोड़ी देर में दोनों चुप हो गए—हम सोचते रहे कि क्या हुआ है। तब बहू लौट आई—थोड़े से नरसल काट लाई थी—उसमे दो-चार पौधे शायद मकई के भी थे।"

"फिर?"

"हमने बहू की सास से कहा कि उसे समझा दे, गाँव के चौधरी से रार करना अच्छा नहीं होता। बहू कुछ नहीं बोली। घूँघट काढ़कर छपरिया छाने बैठ गई। हमने समझा कि बात खतम हो गई है।"

"फिर?"

"तब भोर होनेवाला था। बरसात बन्द हो चुकी थी। धूप निकल आई, तब हम बाहर निकलकर बदन सुखाने लगे। पर

वे सास-बहू बैठी रहीं—बहू अभी तक अपना काम किए जा रही थी। तभी हमने सुना, सास बड़े ज़ोर से चीख़ पड़ी ! वह बच्चा एक बार छटपटाकर मर गया था···”

“हम धीरे-धीरे उसके पास गए, कि समझाएँ, दिलासा दें। बहूने काम करना बन्द कर दिया ; सन्न-सी वहीं बैठ रही। हम भी कुछ कह नहीं पाए थे, अभी चुप ही थे कि चौधरी का बेटा एक लाठी लिए आया और उसे देखकर बोला—‘क्यों री, तू ही चुराकर लाई थी न मकई ?’ और कहते-कहते लाठी से उसकी बनाई हुई अधूरी छपरिया को बिखेर दिया। उसमें एक-आध पौधा मकई का दीख पड़ा, तो लाठी से बहू को धकेलते हुए बोला, ‘अब क्यों बोल नहीं निकलता ?’ और गन्दी गाली दी। तब बहूने घूँघट हटा दिया और बोली—‘चौधरी, अपना काम करो, ग़रीबों को सताना अच्छा नहीं।’

“चौधरी और भी गर्म हुआ। गालियाँ देने लगा और एक लाठी भी बहूकी टाँगमे जमा दी। बहू हमारी ओर देखकर बोली, ‘तुम लोग देखते नहीं हो ?’ पर हम सब ऐसे घबरा गए थे कि हिल-डुल भी नहीं सके, बोले भी नहीं। इतनी देरमें उसने एक लाठी और मारी। वह हटकर बची तो, पर उसके पैरमें चोट लगी। तब वह भागी और चौधरी उसके पीछे-पीछे।”

“फिर ?”

“हम वहीं बैठे रह गए—फिर क्या हुआ, हमने नहीं देखा—”

सत्यको ऐसा हुआ, कहूँ, "मैंने देखा! मैंने देखा!" पर वह चुपचाप सुनता रहा।

"जब हमने फिर देखा, तो चौधरी इसी जगह खड़ा था। और वह वहीं झाड़ीमें डूब रही थी। हमने मिलकर उसे निकाला; वह बेहोश थी। उसके कई जगह चोटें थी, खून बह रहा था।"

"फिर?"

"फिर उसे अस्पतालमें ले गए। वहाँ पड़ी है। अभी तक होश नहीं आया। बचेगी नहीं।"

बुड्ढा चुप हो गया। थोड़ी देर बाद सत्यने पूछा--"और चौधरी?"

"चौधरी क्या?" प्रश्नमें ऐसा विस्मय था, मानो सत्यका प्रश्न उठ ही नहीं सकता—उसका उत्तर इतना स्वतःसिद्ध है! हाँ, चौधरी क्या? चौधरी कुछ नहीं। वह तो चौधरी है ही।

बहुत देर मौन रहा। बुड्ढेने देखा, सत्य चुप है, न-जाने किस विचारमें लीन है। वह निराश-सा होकर वृद्धों के प्रति संसारकी उपेक्षाका विचार करके चला गया।

सूर्यास्त हो गया। अँधेरा हो गया। तारे निकल आए। पक्षियोका रव बन्द हो गया। पानीकी घरघराहट और गम्भीर हो गई। पर सत्यका पत्थरमे खिचा हुआ संसार नहीं पिघला—नहीं पिघला।

एक पत्थरका बुलबुला था, ठोस, अपरिवर्तित, मुर्दा। किन्तु बुलबुला होनेके कारण वह जीवन की निरन्तर परिवर्तन-शीलता,

विचित्रता, रंगीनी और क्षुद्र नश्वरताका द्योतक बना रहता था। वह चिह्न था अनुभूतिका, प्रेमका, उत्साहका, किन्तु उसकी वास्तविकता थी छलना, वेदना, वज्र कठोरता, मानवके जीवनका नंगापन...

वह बुलबुला फूट गया है, इसलिए उसका भेद खुल गया है। सत्य भी देख सकता है कि वह जीवनका सौन्दर्य नहीं, उसके पीछे निहित कठोरता है; वह पत्थर है, जो नहीं पिघलेगा, नहीं पिघलेगा।

५

कहानी जीवनकी प्रतिच्छाया है, और जीवन स्वयं एक अधूरी कहानी है, अधूरी कहानियोंका संग्रह है, एक शिक्षा है, जो आयु-भर मिलती रहती है और समाप्त नहीं होती। हमारी कहानी का भी सच्चा अन्त तो यही है। मुज़फ्फराबादवाली बात भी अधूरी, जमुना किनारेकी बात भी अधूरी, देश-सेवाकी बात भी अधूरी, जीवन ही अधूरा रह गया है. पर, जिस प्रकार किसी लेखककी मृत्युके बाद छपी हुई अधूरी कहानियोंको पढ़कर भी उसके जीवनकी प्रगतिका एक पूरा चित्र खींचा जा सकता है, उसी प्रकार संसारकी अपूर्ण विशालतामें, विशाल अपूर्णतामें भी एक तथ्य मिलता है, एक प्रवाह, एक continuity, एक किसी निश्चित, परिपूर्ण फलनकी ओर अग्रसर होती हुई अचूक प्रगति...

सत्यका स्वप्न बिखर गया है। उसकी दबी हुई कामनाएँ और

लिप्साएँ दबी ही रह गई हैं। सत्यकी बुद्धिने उन्हे बाँधकर कुचल डाला है, फूटने नहीं दिया। पर उन्होंने भीतर-ही-भीतर फैलकर सत्यकी मानसिक प्रयोगशालासे न-जाने कौन-कौन-से अभूतपूर्व रसायन तैयार किए है, और वे रसायन न-जाने किन-किन शक्तियो से लदे है, सत्य को किधर धकेल ले जाएँगे! उसके कौन-कौन-से आदर्श तोड़ेगे। उसकी मेहनतसे संचित की हुई, या दबाई हुई, किन-किन गुप्त स्मृतियोंको उखाड़ फेकेगे, नंगा कर देंगे। उसकी किन-किन सदभिलाषाओं, उच्चतम आकांक्षाओं, उत्सर्ग-चेष्टाओंकी व्युत्पत्ति पतित-से-पतित, गर्हित-से-गर्हित, जघन्यतम धातुओसे सिद्ध कर देंगे। प्रेम-जीवनके किस-किस कमलका उद्भव वासना-सरके किस गँदले कीचसे कराएँगे .

और यह सारी विराट् क्रिया मानवके लिए एक अपूर्णता ही रह जायगी, जिसे वह समझकर भी नही समझेगा। वह इसकी continuity को नहीं समझ पाएगा। जैसे आक्सीजन और हाइड्रोजनको मिलाकर जलाएँ—एक धड़ाका होता है और हम देखते हैं, न आक्सीजन है न हाइड्रोजन। उसे हम विस्फोट कहते है। पानी बननेकी इस क्रियामें हम उसकी अनिवार्य continuity नही देखते—हम यही समझते है कि दोनो गैसो की जीवनी अधूरी रह गई—एक विस्फोटमे उलझकर खो गई।

ऐसा ही विस्फोट सत्यके जीवनमें भी हुआ; पर हमारी कहानीका वह अंग नही है, क्योंकि हमारी कहानीकी सम्पूर्णता विस्फोटके पूर्वके इस अधूरेपनमे ही है। उस विस्फोटका इस

प्रारम्भसे कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी जीवनकी विशाल असम्बद्धतामें वे दोनों एक ही क्रियाकी दो अभिन्न कलाएँ थीं।

इस घटनाके दो वर्ष बाद सत्यकी मृत्यु हो गई। मृत्यु नहीं हुई, हत्या हुई। संयुक्तप्रान्त में जो किसान-विद्रोह हुआ, उसके प्रपीड़ित, अज्ञात, नामसे घबरानेवाले, बल्कि नामहीन अगुओंमें से सत्य भी एक था। उसी सिलसिलेमें एक गाँवमें 'शान्ति-स्थापना' के समय पुलिसके हाथों गोली लगकर वह मर गया। किसीने यह भी नहीं जाना कि भारतमाताके उस सुपुत्रका समाधि-स्थल कहाँ रहा।

यह भी अपूर्ण कहानी है। किन्तु इन अनेक टूटी-फूटी कड़ियोंको जोड़ देनेपर जीवन-शृंखला पूरी हो जाती है। यह और बात है कि इन कड़ियोंको जोड़ देनेकी शक्ति मानवमें नहीं है-- कि इसके लिए हमारे जीवन-संघर्षकी अपेक्षा कहीं अधिक तावकी, कहीं अधिक प्रोज्वल भट्ठीकी, आवश्यकता है।

शत्रु

लाहौर

जून, १९३५

ज्ञानको एक रात सोते समय भगवानने स्वप्नमें दर्शन दिए, और कहा, "ज्ञान, मैंने तुम्हे अपना प्रतिनिधि बनाकर संसारमें भेजा है। उठो, संसार का पुनर्निर्माण करो।"

ज्ञान जाग पड़ा। उसने देखा, संसार अन्धकारमे पड़ा है, और मानव-जाति उस अन्धकारमे पथ-भ्रष्ट होकर विनाशकी ओर बढ़ती चली जा रही है। वह ईश्वरका प्रतिनिधि है, तो उसे मानव-जातिको पथपर लाना होगा, अन्धकारसे बाहर खीचना होगा, उसका नेता बनकर उसके शत्रु से युद्ध करना होगा।

और वह जाकर चौराहे पर खड़ा हो गया और सबको सुनाकर कहने लगा,—"मै मसीह हूँ, पैग़म्बर हूँ, भगवानका प्रतिनिधि हूँ। मेरे पास तुम्हारे उद्धारके लिए एक सन्देश है।"

लेकिन किसीने उसकी बात नहीं सुनी। कुछ उसकी ओर देखकर हँस पड़ते; कुछ कहते, पागल है; अधिकांश कहते, यह हमारे धर्मके विरुद्ध शिक्षा देता है, नास्तिक है, इसे मारो! और बच्चे उसे पत्थर मारा करते।

× × ×

आखिर तंग आकर वह एक अँधेरी गलीमें छिपकर बैठ गया, और सोचने लगा। उसने निश्चय किया कि मानव-जातिका सबसे बड़ा शत्रु है धर्म, उसीसे लड़ना होगा।

तभी पास कहीसे उसने स्त्रीके करुण क्रन्दनकी आवाज़

सुनी। उसने देखा, एक स्त्री भूमिपर लेटी है, उसके पास एक वहुत छोटा-सा वच्चा पड़ा है, जो या तो वेहोश है, या मर चुका है, क्योंकि उसके शरीरमें किसी प्रकारकी गति नहीं है।

ज्ञानने पूछा, "वहन, क्यों रोती हो?"

उस स्त्रीने कहा, "मैंने एक विधर्मीसे विवाह किया था। जव लोगोंको इसका पता चला, तव उन्होंने उसे मार डाला और मुझे निकाल दिया। मेरा वच्चा भी भूखसे मर रहा है।"

ज्ञानका निश्चय और दृढ़ हो गया। उसने कहा, "तुम मेरे साथ आओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।" और उसे अपने साथ ले गया।

ज्ञानने धर्मके विरुद्ध प्रचार करना शुरू किया। उसने कहा, "धर्म झूठा वन्धन है। परमात्मा एक है, अवाध है और धर्मसे परे है। धर्म हमें सीमामें रखता है, रोकता है, परमात्मासे अलग करता है, अतः हमारा शत्रु है।"

लेकिन किसीने कहा, "जो व्यक्ति पराई और वहिष्कृता औरतको अपने पास रखता है, उसकी वात हम क्यों सुनें? वह समाजसे पतित है, नीच है।"

तव लोगोंने उसे समाज-च्युत करके वाहर निकाल दिया।

× × ×

ज्ञानने देखा कि धर्मसे लड़नेके पहले समाजसे लड़ना है। जव तक समाजपर विजय नहीं मिलती, तव तक धर्मका खण्डन नहीं हो सकता।

तब वह इसी प्रकारका प्रचार करने लगा। वह कहने लगा, "ये धर्मध्वजी, ये पोंगे-पुरोहित-मुल्ला, ये कौन हैं? इन्हें क्या अधिकार है हमारे जीवनको बाँध रखनेका? आओ, हम इन्हें दूर कर दें, एक स्वतन्त्र समाजकी रचना करें, ताकि हम उन्नतिके पथपर बढ़ सकें।"

तब एक दिन विदेशी सरकारके दो सिपाही आकर उसे पकड़ ले गए, क्योंकि वह वर्गों में परस्पर विरोध जगा रहा था।

× × ×

ज्ञान जब जेल काटकर बाहर निकला, तब उसकी छातीमें इन विदेशियोंके प्रति विद्रोह धधक रहा था। यही तो हमारी क्षुद्रताओंको स्थायी बनाए रखते है, और उससे लाभ उठाते हैं! पहले अपने को विदेशी प्रभुत्वसे मुक्त करना होगा, तब समाज को तोड़ना होगा, तब...

और वह गुप्त रूपसे विदेशियोंके विरुद्ध लड़ाईका आयोजन करने लगा।

एक दिन उसके पास एक विदेशी आदमी आया। वह मैले-कुचैले, फटे-पुराने, खाकी कपड़े पहने हुए था। मुखपर झुर्रियाँ पड़ी थी, आँखोंमें एक तीखा दर्द था। उसने ज्ञानसे कहा, "आप मुझे कुछ काम दें, ताकि मैं अपनी रोज़ी कमा सकूँ। मैं विदेशी हूँ, आपके देशमे भूखा मर रहा हूँ। कोई भी काम आप मुझे दें, मै करूँगा। आप परीक्षा लें। मेरे पास रोटीका टुकड़ा भी नहीं है।"

ज्ञानने खिन्न होकर कहा, "मेरी दशा तुमसे कुछ अच्छी नहीं है, मैं भी भूखा हूँ।"

वह विदेशी एकाएक पिघल-सा गया। बोला, "अच्छा! मैं आपके दुःखसे बहुत दुखी हूँ। मुझे अपना भाई समझें। यदि आपसमें सहानुभूति हो, तो भूखे मरना मामूली बात है। परमात्मा आपकी रक्षा करे। मैं आपके लिए कुछ कर सकता हूँ?"

× × ×

ज्ञानने देखा कि देशी-विदेशीका प्रश्न तब उठता है, जब पेट भरा हो। सबसे पहला शत्रु तो यह भूख ही है। पहले भूखको जीतना होगा, तभी आगे कुछ सोचा जा सकेगा ..

और उसने 'भूखके लड़ाको' का एक दल बनाना शुरू किया, जिसका उद्देश्य था अमीरोंसे धन छीनकर सबमें समान रूपसे वितरण करना, भूखोंको रोटी देना, इत्यादि; लेकिन जब धनिकोंको इस बातका पता चला, तब उन्होंने एक दिन चुपचाप अपने चरों द्वारा उसे पकड़ मँगाया और एक पहाड़ी किलेमें कैद कर दिया। वहाँ एकान्तमें वे उसे सतानेके लिए नित्य एक मुट्ठी चबैना और एक लोटा पानी दे देते, बस।

धीरे-धीरे ज्ञानका हृदय ग्लानिसे भरने लगा। जीवन उसे बोझ जान पड़ने लगा। निरन्तर यह भाव उसके भीतर जगा करता कि मैं, ज्ञान, परमात्माका प्रतिनिधि, इतना विवश हूँ कि पेट-भर रोटी का प्रबन्ध मेरे लिए असम्भव है! यदि ऐसा है, तो कितना व्यर्थ है यह जीवन, कितना छूँछा, कितना बेमानी!

एक दिन वह किलेकी दीवारपर चढ़ गया। बाहर खाईमें भरा हुआ पानी देखते-देखते उसे एकदम से विचार आया, और उसने निश्चय कर लिया कि वह उसमें कूदकर प्राण खो देगा। परमात्माके पास लौटकर प्रार्थना करेगा कि मुझे इस भारसे मुक्त करो ; मैं तुम्हारा प्रतिनिधि तो हूँ, लेकिन ऐसे संसार-में मेरा स्थान नहीं है।

वह स्थिर, मुग्ध दृष्टिसे खाईके पानीमे देखने लगा। वह कूदनेको ही था कि एकाएक उसने देखा, पानीमे उसका प्रतिबिम्ब झलक रहा है और मानो कह रहा है, "बस, अपने-आपसे लड़ चुके ?"

× × ×

ज्ञान सहमकर रुक गया, फिर धीरे-धीरे दीवारपर से नीचे उतर आया और क़िलेमें चक्कर काटने लगा।

और उसने जान लिया कि जीवनकी सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानीकी ओर आकृष्ट होते हैं।